महर्षि पाणिनि स्मारक मन्दिर

नूनखार वाले बाबा संमोहानन्द

डॉ० सत्यव्रत शर्मा

श्यामला प्रकाशन
वाराणसी

दो शब्द

नकछेद पण्डित के बाबा संमोहानन्द विषयक इस आख्यान को मैंने बड़े ध्यान से पढ़ा। बाबा संमोहानन्द बड़े बेफिक्र व्यक्ति लगते हैं। उनकी जीवन-यात्रा बड़ी कालव्यापी तथा वैविध्यपूर्ण लगती है।

नकछेद पण्डित मेरे अंतरंग हैं और मैं बाबा संमोहानन्द को उन्हीं के मांध्यम से जानता हूँ। मेरा दुर्भाग्य रहा है कि कई बार चाहने पर भी मैं बाबा संमोहानन्द से नहीं मिल पाया।

इस आख्यान में 'बाबा संमोहानन्द' तथा 'नकछेद पण्डित' इन दो सम्बोधनों का बार-बार प्रयोग हुआ है। नकछेद पण्डित ने बताया है कि श्रद्धा तथा स्नेहातिरेक ही इस पौन:पुन्य के मूल कारण रहे हैं ,इसलिए यह बात अटपटी नहीं लगनी चाहिए।

नकछेद पण्डित के आग्रह से यह कृति प्रकाशित की जा रही है। इस बात को अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि इनके आग्रह में ही बाबा संमोहानन्द का आग्रह अपने-आप शामिल हो गया है और यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपनी इस रचना में पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' का खुलकर प्रयोग किया है।

नकछेद पण्डित इस बात के प्रति पूरे बेपरवाह हैं कि उनकी यह रचना साहित्य की किस विधा में स्थान पायेगी। बाबा संमोहानन्द के आग्रह को पूर्ण करके वे बाकी बातों से मुक्त हो चुके हैं।

-सत्यव्रत शर्मा

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू -
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

इस पुस्तक में तान्त्रिक विद्या का वर्णन है।

अनुक्रम

बिसकूपिन में वह छाया मूर्ति

पोलैण्ड में मैं पिछले वर्ष फरवरी में पहुँचा था। पोजनान विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति हुई थी और शहर के बाहर तिसिओंच्लेसिया में रहने के लिए एक फ्लैट मिला था। सप्ताह के भीतर ही भीषण बर्फ गिरी थी और उस दिन तो सुबह से ही बर्फ पड़ रही थी, जब ट्राम पकड़ने के लिए जाते समय मैं नीचे तक बर्फ पर फिसलते हुए गिर पड़ा था। उस समय तो मोच का खास पता नहीं चला, लेकिन विश्वविद्यालय में एक छात्र की सहायता लेकर अस्पताल जाना पड़ा, और वहाँ से अपने फ्लैट तक एम्बुलेंस पर ही पहुँचाया गया। उस दिन मुझे कुछ खरीददारी क़रनी थी सो नहीं हो पाई थी और डाक्टर ने तीन दिनों तक फ्लैट से़ बाहर न होने की सख्त चेतावनी दी थी। कठिनाई यह थी कि मिसेज मार्ता क्नोव्विंस्का के उस फ्लैट में फोन नहीं था।

फ्लैट में खाने के लिए ब्रेड के कुछ टुकड़े, एक बोतल में कुछ दूध और थोड़ा सा मक्खन था। सबसे विकट समस्या माचिस की थी। माचिस में केवल तीन तीलियाँ बची थीं। अनजान देश और अनबूझ भाषा! किससे बात करूँ? अभी एक हफ्ता भी तो नहीं बीता! किसी के फ्लैट की घंटी बजा भी दूँ तो कहूँगा क्या? देखा-देखी तक नहीं! खैर बड़ी सावधानी से एक तीली से मैंने गैस जलायी। चाय तो पीनी ही है। लँगड़ा असमर्थ पैर! मैं चाय पीकर सोने की कोशिश करने लगा।

सपने में बाबा संमोहानन्द दिखे। कह रहे थे-"जा तू बच गया नकछेद पण्डित!"

नींद खुल गयी। बिल्कुल वही स्वर-बाबा संमोहानन्द की स्वर शैली : उसे खूब पहचानता हूँ। बाबा संमोहानन्द यह क्या कह रहे हैं- "जा तू बच गया नकछेद पण्डित।"

मेरा नाम नकछेद नहीं; लेकिन बाबा संमोहानन्द मुझे नकछेद पण्डित कहकर पुकारते हैं। पहले गजानन तिवारी कहा करते थे। एक दिन मैंने टोका - "बाबा, आप मुझे गजानन क्यों कहते हैं ? मेरा मुँह हाथी की तरह तो नहीं है। हाँ, बकरे सी शक्ल मेरी जरूर है। आप मुझे अजानन कह सकते हैं।"

बाबा हँसे, बोले- "तू नुझसे तर्क करता है। एकमात्र तू ही है मुझसे तर्क करने वाला, अब चल मैं तुझे नकछेद पण्डित कहा करूँगा- तेरे भीतर एक देवता रहता है, जिसे तू नहीं जानता; मैं जानता हूँ। आज से तुम्हारा नाम नकछेद। नाक + छेद यह व्याकरण और साहित्य की ऊँची बातें हैं, तू नहीं समझ पायेगा। आज से तुम्हारा नाम नकछेद पण्डित।"

जब कि मैं ज़ानता हूँ कि नकछेद उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसकी नाक छेदी गयी हो; इसी तरह छेदी भी जिसका कान.......। और देवता तो हरएक के भीतर रहते हैं। लेकिन बाबा संमोहानन्द का तर्क !

और यहाँ इस देश में, अपने देश से दस हजार किलोमीटर दूर इस सन्नाटे में बाबा संमोहानन्द कह रहे हैं-"जा, तू बच गया नकछेद पण्डित !" बाबा समोहानन्द ऐसा क्यों कह रहे हैं ? मतलब कुछ समझ में नहीं आया।

दूसरे दिन एक और तीली जलाने से पहले अग्नि- सुरक्षा के प्रश्न पर मैं बड़े विचार में पड़ गया। एकाएक मोमबत्तियों का स्मरण आया। मेरे पास मोमबत्तियों का छोटा-सा स्टॉक था। भारत से ही लेकर चला था। खोजने पर यहाँ भी मोमबत्ती मिली। बड़ी सर्तकता से मैंने मोमबत्ती जलायी और उस क्षेत्र की खिड़की अच्छी तरह से बन्द कर दी। गैस को जलता हुआ छोड़ने से मुझे वह उपाय अधिक जँचा था। किसी के आने की उम्मीद तो थी नहीं, किसी से सम्पर्क की भी गुंजाइश नहीं थी। ब्रेड के एक-दो टुकड़ों, थोड़ा मक्खन और एक-दो प्याली चाय पर वह दिन भी बीत गया।

किसी तरह वह अभावमयी रात भी बीती।

तीसरे दिन मन बहलाने के लिए मैं एक जासूसी उपन्यास पढ़ रहा था कि सहसा एक स्वर सुनाई पड़ा-"ए नकछेद पण्डित!" मेरे रोंगटे खड़े हो गये। बाबा संमोहानन्द बोल रहे थे। एकदम वही आवाज जरा भी फर्क नहीं। मैं चौंककर कमरे में इधर-उधर देखने लगा। वैसे यह आवाज खिड़की के पार बाहर से आई थी। वह आठवीं मंजिल थी। आठवीं मंजिल की खिड़की के पार उससे सटकर जैसे कोई कह रहा था- "ए नकछेद पण्डित!" कुछ भय- सा लगा। अनजान देश! बात क्या है?

तभी मेरे फ्लैट की घंटी बजी, मैं बड़े जोशोख़रोश तथा आतुरता से फ्लैट का द्वार खोलने के लिए लंगड़ाता हुआ उठा। फ्लैट की स्वामिनी मार्ता आई थी। उसने मेरी दुर्दशा देखी। मैंने उसे इशारे से ही अपनी फटेहाली समझायी। भाषा का तो सवाल ही नहीं था। तभी इंग्लिश-पोलिश, पोलिश-इंग्लिश डिक्शनरी का मुझे ख्याल आया। वह डिक्शनरी मैंनें यहाँ पहुँचते ही खरीदी थी। उसके सहारे विचारों का कुछ फैलाव हुआ और डिक्शनरी में देख-देख कर मैंने आवश्यक सामानों की एक लिस्ट बनायी। फिर 'पसेप्रासाम'[1] कहकर वह लिस्ट मैंने मार्ता को पकड़ा दी।

मार्ता के जाने के बाद बाबा संमोहानन्द की आवाज का मुझे पुनः स्मरण हो आया। और यह भी स्मरण हुआ कि बाबा संमोहानन्द से मेरी जब भी अचानक भेंट हुई है कोई-न-कोई घटना जरूर घटी है। अच्छी घटना घटी है। मेरा संताप जरूर कुछ कम हुआ है। उस दिन सपने में बोले थे-"जा तू बच गया नकछेद पण्डित!" और आज बोले-"ए नकछेद पण्डित!" कोई बात जरूर हुई है। आते समय मैं उनसे मिल नहीं पाया था। जरूर कोई बात हुई है और तब तो वे बोल रहे थे-"ए नकछेद पण्डित!"

उस घटना को बीते कई महीने हो गये। कल शहर में एक नये फ्लैट में स्थानान्तरित हुआ। दिन भर सामानों के रख-रखाव में ही बीता और अद्भुत थकान ने सारे शरीर को निढाल कर दिया।

1. पोलिश में 'पसेप्रासाम' का तात्पर्य है क्षमा कीजिए।

रात में सपने में बाबा संमोहानन्द के विचित्र दर्शन हुए। उनके शरीर से आभा-सी निकल रही थी और मेरी ओर बड़े स्नेह से देख रहे थे। दृश्य नूनखार के आश्रम का ही था। धीरे-धीरे बोलने लगे-तू चला आया नकछेद पण्डित! बिना मिले? अब मेरे ऊपर तू कुछ लिख।"

"आप तो जागे हुए पुरुष हैं। आपको यह छपास की क्या सूझी-लोकैषणा। आप तो इससे हमेशा बचते रहे हैं।" हँसते हुए बोले-"तू नहीं समझेगा नकछेद पण्डित! मेरी गुरु ने मुझे संमोहानन्द कहा था और यह भी कहा था कि तू इसका मतलब अभी नहीं समझेगा। इसका मतलब आज मेरी समझ में आया। अब जब मैं शरीर में नहीं हूँ। संमोहानन्द! छपास!!" बाबा संमोहानन्द हँसने लगे।

मेरी नींद खुल गयी।

तो बाबा संमोहानन्द क्या चले गये? मिलकर नहीं आया। ओह, उनसे कोई संवाद भी नहीं हो पाया। चित्त अशान्त हो गया। अनजान देश, अनजान भाषा और अनजान लोग। ऐसे में बाबा संमोहानन्द का वह अनबूझ आग्रह और उनकी स्मृतियों का शुरू होता हुआ उत्तरोत्तर सिलसिला!

पोज़नान विश्वविद्यालय के एक छात्र ने एक दिन आपसी बातचीत के दौरान यहाँ के एक अति प्राचीन स्थान बिसकूपिन की चर्चा की। बिसकूपिन नाम से पता नहीं क्यों मुझे इतना आभास तत्काल हो गया था कि वहाँ एक अत्यन्त विस्तृत जलाशय

होना चाहिए। आज जब मार्ता के साथ यहाँ पहुँचा हूँ तो सचमुच देख रहा हूँ कि इस स्थान के चारों ओर एक विस्तृत तथा गहरा जलाशय दूर-दूर तक फैला हुआ है, जिसमें सैलानी लोग दूर-दूर तक स्टीमर में बैठकर सफर करते हैं और एक दूर स्थित संग्रहालय तक पहुँचते हैं।

बिसकूपिन उस लूसेसियन संस्कृति का जीवन्त स्वरूप है, जो 3500-2500 वर्ष ईसा पूर्व प्रारम्भ हुई थी। यही वह स्थान है जहाँ उन लोगों ने लकड़ी के लट्ठों का प्रयोग करते हुए अपने सुदृढ़ निवास स्थानों का निर्माण किया था और लकड़ी के उन्हीं मोटे-मोटे लट्ठों से अपने समूह की रक्षा हेतु जल तथा थल दोनों में अद्‌भुत सुरक्षात्मक चहारदीवारी बनाई थी, जिसके अवशेष अपने पूरे दर्प के साथ आज भी विद्यमान हैं।

मार्ता के साथ उनके मित्र वोदेक भी हैं। आज कार चलाकर वे ही ले आये और हम लोग बड़े मुदित भाव से बिसकूपिन में विचर रहे हैं। निवास-भूमि की एक बड़ी श्रृंखला के एक कमरे के भीतर झाँकने की कोशिश करता हूँ तो एक जाना-पहचाना स्वर सुनाई पड़ता है- "ए नकछेद पण्डित!"

बाबा संमोहानन्द ! बाबा संमोहानन्द यहाँ कहाँ ? एक सिहरन-सी हुई। इधर-उधर देखने लगा। कहीं कोई नहीं। दूर पर मार्ता और वोदेक खड़े थे और मेरा इन्तजार कर रहे थे।

बड़ी उलझन में हूँ। चुपचाप चल रहा हूँ। मार्ता सोच रही है कि इतना बातूनी आदमी इतना चुपचाप क्यों है। लेकिन हर बात को पूछना इतना आसान नहीं है। हम लोगों के बीच भाषा की एक दीवार तो खड़ी ही है! लेकिन मार्ता को देखकर लगता है कि वह कुछ ऐसा ही सोच रही है।

लौटते समय बिसकूपिन क्षेत्र के एक छोटे से आवास की खिड़की से कुछ देखने के लिए भीतर झाँकने लगा। एक अजीब सा झटका लगा-जैसे शरीर से बिजली गुजर गई हो। कमरे के भीतर देख रहा हूँ तो बाबा संमोहानन्द खड़े हैं। चेहरे पर मुस्कान है, स्नेहपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं, शरीर चमकीला लग रहा है और अपने स्वभाव के विपरीत धीरे-धीरे कह रहे है : "मुझ पर कुछ लिखोगे नहीं, नकछेद पण्डित !"

मेरे मुँह से अचानक निकला-"अरे, आप यहाँ ?"

और उसी स्थिति के साथ वह मूर्ति गायब हो गयी। मैं उस प्राचीन मकान की खिड़की के सहारे चुपचाप खड़ा हो गया और मेरी आँखें कहीं शून्य में स्थिर हो गयीं। एकाएक मेरी दृष्टि घूमी तो मैंने देखा कि वोदेक मेरी फोटो खींच रहे थे।

तो यहाँ बिसकूपिन में बाबा संमोहानन्द कहाँ से आ पहुँचे ! मानता हूँ कि बाबा संमोहानन्द महान् हैं। अपने को वे विश्व महान् कहते भी हैं। लेकिन यहाँ ?

मैंने चिट्ठी भेजी है। क्या बाबा संमोहानन्द अब सचमुच नहीं रहे ? मैं जानता हूँ कि ऐसे लोग सूक्ष्म में चले जाते हैं और यथावसर अपने को पुनर्निर्मित कर लेते हैं। यह दृश्य वैसा ही तो नहीं था। कहीं भई मैं......यह कोई संमोहन तो नहीं ! लेकिन मैं तो ठीक-ठाक हूँ। अपनी पूरी संज्ञा में हूँ। यहाँ कहाँ संमोहन? मानता हूँ कि वे एक बड़े पुरुष हैं, महान् तार्किक हैं; अपने आगे किसी की चलने नहीं देते।लेकिन यहाँ बिसकूपिन के इस अन्ध प्राचीन झोपड़े में खड़े होकर मुझसे अपने ऊपर कुछ लिखने का आग्रह कर रहे हैं ! मैं ही क्यों ? मैं किस खेत की मूली हूँ। उनके

पास समुन्नत लोगों की एक पूरी श्रृंखला है ! लेकिन सुना है कि ऐसे लोग अशक्तों की पीठ अधिक ठोंकते हैं। यही बात होगी। वरना मेरी हकीक़त क्या है ?

**

बिरनों के बाबू सूबा सिंह

वर्षों पहले की बात है। उन दिनों मैं लखनऊ में काम करता था।

एक दिन सुबह-सबेरे इन्स्टीट्यूट जाने को तैयार हुआ तो पता चला कि मेज पर से मेरी स्वर्णमण्डित कलाई घड़ी गायब है। सामान्यतः मैं उसे हरदम बाँधे ही रहता था; लेकिन कल रात वह अचानक बन्द हो गई थी। सो मैंने उसे सोते समय अपनी कलाई से अलग करके लिखने-पढ़ने वाली मेज पर रख दिया था। मैं तो कहीं गया नहीं था? सुबह से यहीं था। हाँ, नहाते-धोते समय कमरे से कुछ देर के लिए अलग जरूर हुआ था। वैसे कमरे के बगल में ही तो था! लेकिन घड़ी कहीं दिख तो नहीं रही। कहाँ गायब हो गयी?

मेरे फ्लैट में इन्स्टीट्यूट के तीन नौकर किसी-न-किसी काम से निर्बाध आते-जाते रहते थे। कहीं उनमें से तो किसी ने नहीं लपक लिया। नहीं-नहीं! वे बड़े विश्वस्त नौकर हैं और कई वर्षों से बेदाग रहकर काम कर रहे हैं। ऐसी किसी हरकत की उनसे उम्मीद नहीं है। लेकिन क्या ठिकाना! घड़ी पर सोने का पानी चढ़ा हुआ था! गोल्ड देखकर किसकी नीयत नहीं बदलती। फिर भी........।

उस घड़ी को मैं वर्षों-वर्षों से बाँधता आ रहा था। सोने का पानी चढ़ा होने पर भी पुराने मॉडल की वह घड़ी कोई बड़ी कीमती घड़ी नहीं थी। साधारण सी घड़ी थी। उस रात तो बन्द भी हो गई थी, लेकिन उस घड़ी से मेरे बड़े भावमय सम्बन्ध थे। वह शादी की घड़ी थी। ससुराल की धरोहर थी। साधारण कढ़ाईदार ससुराली

बटुआ भी अपना निराला महत्व रखता है। वह तो सोने के पानी वाली घड़ी थी। कीमत की क्या बात है ? कहीं भाव की भी कोई कीमत होती है ?

मेरे साथ-साथ इन्स्टीट्यूट में काम करने वाले मेरे एक मित्र भी रहते थे। इन्स्टीट्यूट जाने के लिए वे भी तैयार हो रहे थे। घड़ी की बात सुनकर वे सन्नाटे में आ गये। वे मुझसे ज्यादा फिक्रमन्द हो गये। उनके मन में शायद कोई दूसरी बात घूमने लगी थी।

इन्स्टीट्यूट में मेरे एक हम-उम्र सहकर्मी को जब इस अघटन घटना का पता चला तो वे बड़े बुजुर्गाना अन्दाज में बोले - "नहीं! यह तो गलत बात है। आप भी जानते हैं कि ऐसी शर्मनाक घटना इस परिसर में आज तक कभी नहीं हुई। इस बात का पता चलना ही चाहिए कि यह काम किसने किया है।"

मेरे साथ रहने वाले मित्र के उतरे हुए चेहरे को देखकर उन्हें सहसा कुछ याद आया। बोले -

"आपका ज्यादा रुपया खर्च नहीं होगा! गाजीपुर जिले में एक दुल्लहपुर नाम का स्टेशन है। वहाँ उतरकर किसी सवारी से आप सूबा सिंह के गाँव बिरनों चले जायें। वे किसी भी घटना का बड़ा मुकम्मल खुलासा करते हैं। यह बड़ी लज्जाजनक घटना हुई है। आप वहाँ जरूर जायँ, जरूर जायँ। मैं वहाँ जा चुका हूँ। आपके साथ जरूर चलता, लेकिन आप तो मेरी बीमारी से वाकिफ हैं।"

मेरे सहकर्मी किसी असाध्य रोग से बाल-बाल बचे थे और उन्हें इधर-उधर ज्यादा घूमने तथा शारीरिक परिश्रम करने की मनाही थी।

मेरे साथ के मित्र तो चलने के लिए अड़ से गये। लिहाजा तय हुआ कि अगले मंगल को बिरनों पहुँचा जाय। सूबा सिंह मंगल तथा शनि को विशेष रूप से बैठते थे।

मुझे उस घड़ी को लेकर कोई खास उत्कण्ठा नहीं थी। कल वह वैसे ही बंद हो गई थी। लेकिन मन में सूबा सिंह का करतब देखने की एक विचित्र लालसा पैदा हो गयी।

यात्रा के दौरान बाबू जयराम सिंह वाराणसी स्टेशन पर एकाएक मिल गये। हाईस्कूल के सहपाठी और बड़े विनोदी! वे भी साथ हो लिये। एक भीतरी कौतूहल!

दुल्लहपुर स्टेशन से एक ट्रक पर सवार होकर हम लोग सबेरे-सबेरे बड़े समय से सूबा सिंह के गाँव बिरनों पहुँच गये।

गाँव मे घुसते ही यही कोई पचपन-छप्पन साल के दोहरे शरीर वाले एक गँवई सज्जन मिले। हम लोगों को देखकर थोड़े ठमके तो हम लोगों ने उनसे सूबा सिंह का घर पूछा। बोले-"मैं ही सूबा सिंह हूँ। मेरी रफ्फल खो गई है। घर-घर पूछ रहा हूँ। क्या मैं जानता नहीं हूँ? लेकिन फिर भी सबसे पूछ ले रहा हूँ। पिछली बार लोग-बाग मेरा आलू कोड़ ले गये। क्या मुझे पता नहीं चला? सब जानता हूँ; लेकिन चुप रहता हूँ। अब अपने लोगों से क्या तमाशा करूँ? मुझे परेशान देखकर वे लोग भी

मन-ही-मन खूब हँसते हैं। कहते हैं- अब पता चलेगा बच्चू को! बड़ा बताने वाला बनता है।'' और सबसे पहले मैं उसी आदमी से पूछता हूँ जिसने वह काम किया होता है। क्या करूँ, थोड़ा मजा मुझे भी तो मिलना चाहिए। आप लोग ऐसा करें। सड़क के उस पार मेरी मँडई है, आप लोग वहीं चलें। मैं अभी पहुँचता हूँ।''

सूबा सिंह तो बड़े विनोदी निकले! अपनी जानी-समझी रफ्फल का घर-घर पता लगा रहे हैं।

सड़क के पार सूबा सिंह की बैठक थी-कई बैठकें!

उस दिन मंगल था। आतुर स्त्री-पुरुष सूबा सिंह की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी खास मँडई के सामने एक विशाल हाथी झूम रहा था। उनका आलीशान मकान हम लोग गाँव में देख ही चुके थे। तो सूबा सिंह किसी बड़े जमींदार से कम नहीं हैं। लेकिन बड़े सरल आदमी हैं!

लोगों की लाइन में हम लोग भी एक रुपये पर अच्छत रखकर लम्बे टाट के आसन पर बैठ गये। गाँव के स्त्री-पुरुष! कुछ बाहरी दूरागत संभ्रान्त जन भी। सबके-सब एकदम उदास दुःखी और चुप।

तभी सूबा सिंह धुले कपड़े में आते दिखाई पड़े। आकर उन्होंने गजराज की परिक्रमा की और कुछ संक्षिप्त पूजा भी की। फिर आकर अपने आसन पर बैठ गये। उस समय वे बड़े व्यक्तित्ववान् लग रहे थे। एक बार उनकी नजर सब पर घूमी।

हम लोगों को देखकर वे मुस्कराये और फिर सामने का अच्छत, रुपया उठाकर स्थिर हो गये। मुझे बड़ी जिज्ञासा थी–आखिर यह आदमी बताता कैसे है ? मैं उन्हें बड़े गौर से देख रहा था। मुझे तमाशा ही तो देखना था। क्षण भर में उनके चेहरे की रंगत बदली और ऐसा मालूम पड़ा जैसे उनकी आँखें स्थिर होकर कहीं देखने लगीं।

"ऐ औरत ! रुपया निकाल।"

उस स्त्री ने पाँच रुपये निकालकर उनके सामने रख दिये। उसका लड़का कहीं गुम हो गया था।

"बस पाँच रुपये रखती है ? घर से चलते समय अपने मरद से तुमने क्या कहा था ? सोखा बाबा को पन्द्रह रुपये दूँगी ! पूरा रुपया रख।"

शायद डर के मारे उस स्त्री ने दस की जगह पन्द्रह रुपये और रखे और बाबा सूबा सिंह उसके लड़के के बारे में भाखने लगे। उस समय मुझे किसी तरह का कोई खास ज्ञान एकदम नहीं था। लेकिन इतना तो अवश्य लग रहा था कि वे आविष्ट हो गये हैं और मात्र एक बिचौलिये का काम कर रहे हैं।

भाखने के बाद कुछ देर के लिए वे सामान्य हो जाते थे। भाखते समय फिर वही मुद्रा। कई केस थे।

कुछ देर बाद उनके कुर्ते की दोनों जेबें रुपयों से भर गयीं। उन रुपयों को वे कभी बाहर निकालते, फिर जेब में रख लेते। लगता था इस आमदनी से वे पूरे तुष्ट नहीं थे। कुछ झुँझलाते हुए तीव्र स्वर में कह भी रहे थे- "यह क्या पैसा है ? आप लोग खूब पैसा दें तो खूब बताऊँ। जिलाजीत हूँ। अकेला, नंबर एक-सारी इण्डिया जानती है। लेकिन पैसा आ नहीं रहा।"

सूबा सिंह की भखौती अपने उत्कर्ष पर थी और हम लोगों को रह-रह रोमांच हो रहा था। सूबा सिंह के भीतर कौन सी शक्ति काम कर रही है ?

विचार के उन्हीं क्षणों में सूबा सिंह ने मेरा अच्छत, रुपया उठाया।

"यह रुपया आपका तो नहीं है।" उन्होंने मेरी ओर इशारा किया। "यह रुपया तो उनका है।" उनका संकेत जयराम सिंह की ओर था। बात सही थी। फुटकर एक रुपया न होने के कारण मैंने उसे उनसे ही लिया था।

सोखा बाबा हँसे, बोले- "मुझसे कुछ छिपता नहीं।"

"कुछ पैसा रखें श्रीमन् !"

मैंने पाँच रुपये रख दिये। सूबा सिंह ने उसे उठाया और उस पाँच रुपये की नोट में ही जैसे कुछ देखकर अपनी विजड़ित मुद्रा में बोलने लगे - "मशीन है, मशीन है, मशीन है। सेंध नहीं लगी, छत नहीं कटी, ताला नहीं टूटा, चोरी हुई। मशीन है। श्रीमन् ! कैसी मशीन है ? लाखों मशीनें हैं। कुछ बोलिए श्रीमन् ! मैं क्या दुनिया की सारी मशीनों का नाम जानता हूँ ?"

"आप जानते नहीं बाबा, आप देखते हैं। आपसे क्या छिपा है?" मैं बोला।

सूबा सिंह अपनी परिवर्तित मुद्रा में ही कुछ हँसे। फिर बोलने लगे- "मशीन है, मशीन है, मशीन है।हाथ की मशीन है। घड़ी है।"

घड़ी का नाम सुनते ही हम लोग बेतहाशा चौंके। क्या गजब का आदमी है सूबा सिंह! सोखा बाबा बोले जा रहे थे-

"वह जो तुम्हारा नौकर है तेरह-चौदह साल का दुसाध का छोकड़ा, जिसकी रेखें भींग रही हैं। उसी ने वह घड़ी ली है। पन्द्रह लवंडों के बीच में उसको खड़ा करो, मैं उसका कान पकड़कर खींच लूँगा। उसी ने लिया है। उस समय घड़ी बन्द थी।"

मैं तो एकदम सन्न! इस बात को मेरे अलावा कोई नहीं जानता था कि उस समय घड़ी बंद थी और इसीलिए हाथ से अलग भी की गई थी। यह सूबा सिंह कौन सी चीज है भई!

"अपने यहाँ काम करने वाले तीनों नौकरों के नाम अच्छत रखिए। मैं अभी टिक करता हूँ।" सूबा सिंह बोले जा रहे थे।

मैंने नौकरों के नाम से तीन जगह अच्छत रखा और सूबा सिंह ने तत्क्षण सही नाम पर, उस दुसाध के छोकड़े पर टिक कर दिया।

"श्रीमन्! आपने पैसे तो मुझे बहुत कम दिया। लेकिन आप पता नहीं क्यों मुझे बहुत अच्छे लगे। जितना अच्छा मैंने आपका बताया उतना अच्छा किसी का नहीं। वैसे मुझे पैसा नहीं चाहिए। मैं जानता हूँ कि वह घड़ी कोई बहुत कीमती घड़ी नहीं थी और बंद भी हो गई थी।" इतना कहकर सोखा बाबा फिर सामान्य हो गये और अपनी जेबों से रुपया निकाल-निकाल कर देखने लगे।

हम लोगों का काम समाप्त हो चुका था और अब उस दिन के आखिरी कैन्डीडेट थे रीवाँ स्टेट के दीवान। उनके साथ एक पण्डित जी भी आये थे। हमें उठता देखकर सूबा सिंह ने मेरी ओर बड़ी स्नेहपूर्ण आँखों से देखा और बोले-"बैठो श्रीमन्! दीवान जी की भी समस्या देखते जाओ। फिर देखा-दरस का क्या ठिकाना? आप तमाशा ही तो देखने निकले हो।" इतना कहते हुए उन्होंने उनका अच्छत-रुपया उठा लिया। एक रुपये के उस नोट को अपने बाँयें हाथ पर रखकर अपना दाहिना हाथ उस पर फेरते हुए बोले-

"चोरी हुई है। बहुत बड़ी चोरी हुई है। रुपये रखिए दीवान साहब!"

दीवान ने सौ रुपये की एक नोट रख दी। उस खुली नोट को हाथ में लेकर उसे कुछ और फैलाने की कोशिश करते हुए सूबा सिंह बोले-

"दीवान जी, बड़ी रोशनी सी लग रही है। कोई सफेद चीज फच्च-फच्च करती हुई आ रही है और फच्च-फच्च करती हुई जा रही है। क्या चाँदी की चोरी हुई है दीवान जी!"

"बाबा! हमें कुछ भी नहीं मालूम। मुझे बस यह बताया गया है कि रनिवास में चोरी हुई है; लेकिन किस चीज की चोरी हुई है यह हमें मालूम नहीं है। आप समर्थ हैं। आपसे क्या छिपा है?"

सूबा सिंह ने अपनी आँखें बंद कर लीं और उनका शरीर एकदम स्थिर हो गया। कुछ देर बाद जब उन्होंने अपनी आँखें खोलीं तो वे एकदम लाल हो गई थीं। पुतलियाँ स्थिर थीं और वे एकटक होकर शून्य में जैसे कुछ खोज रहे थे। मैंने उन्हें पहली बार अपनी आँखें बन्द करते हुए देखा था और अब तो वे कुछ

विचलित से लग रहे थे। क्या सूबा सिंह रनिवास तक नहीं पहुँच पा रहे हैं ?

एकाएक सूबा सिंह अपना होंठ काटते हुए तीव्र स्वर में बोले-"आप लोग कोई जवाब नहीं देते ! जब कुछ जानते नहीं तो आने की जरूरत क्या थी ? यह फाटक पर कौन है, जो इष्ट को भीतर जाने से बराबर रोक रहा है ? पण्डित जी दूब लाइए।"

पण्डित जी दूब लाने बाहर गये तो दीवान ने मुझे धीरे से बताया- "फाटक पर रजवाड़े के कुल- देवता की प्रतिमा है, जिसकी नित्य पूजा होती है।"

क्षण भर में पण्डित जी लौटे और दुर्बा का स्पर्श करते ही सूबा सिंह बोल पड़े-

"बड़े हीरे की नगवाली यह तो एक काफी भारी अँगूठी है ! गजब का हीरा है ! जैसे सफेद पानी फैल रहा है, फिर लौट रहा है। और यह कमरा तो बड़ा सुन्दर है ! ऐसा सुन्दर कमरा तो मैंने आज तक नहीं देखा। दीवारों पर बड़ी-बड़ी फोटुएँ टँगी हैं। यह बड़ा सुन्दर सिंगारदान है। इसी के एक खाने से अँगूठी चोरी गई है। तमाम लौड़ियाँ आती-जाती हैं। एक दो हैं ? वह जो पतली सी, छरहरी सी, सुन्दर सी लौंड़ी है, उसी ने वह अँगूठी चुराई है। बेचारी ! ओह !"

"उसका नाम क्या है बाबा !"

"उसका नाम बता दूँ ? उस बेचारी का ? ताकि आप लोग मार-मार कर उसकी हड्डी-पसली एक कर दें। नाम तो इसी शर्त पर बताऊँगा जब आप लोग उसे कोई दंड नहीं देंगे।" इतना कह कर सूबा सिंह सामान्य भाव से उठ खड़े हुए। अब वे एकदम नार्मल

लग रहे थे और प्रसन्न थे। एकाएक मेरी ओर घूमे और सामान्य ढंग से देखते हुए बोले–

"जब आप लखनऊ से इतनी दूर आ ही गये हैं तो नूनखार वाले बाबा से मिलते जाइए श्रीमन् !"

"नूनखार वाले बाबा ?"

"हाँ, बाबा संमोहानन्द। मैं कह रहा हूँ कि वे आपसे मिलना चाहते हैं। आप उनसे मिले बिना मत लौटियेगा। कोई परिवर्तन होने वाला है।"

इतना बोलकर वे एकाएक मुड़े और दीवान की बाँह पकड़कर बगल वाली मँडई में चले गये।

बाबा संमोहानन्द ! नाम तो सुना है ! तभी बाबू जयराम सिंह बोले–"लगता है कि यह दीवान उस लौंड़ी का नाम जानकर रहेगा। उस बेचारी की खैर नहीं !"

दुल्लहपुर पहुँचकर मेरे मित्र मुझसे अलग होने लगे। मैंने अपने साथ रहने वाले को दो दिनों की अर्जी दी और नूनखार पहुँचने के लिए यात्रा-साधन की पूछ-ताछ करने लगा।

**

नूनखार में

ट्रेन रात नौ बजे नूनखार पहुँची। अपना झोला कंधे से लटकाकर मैं ट्रेन से नीचे उतरा और वहाँ के मद्धिमा प्रकाश में इधर-उधर देखने लगा।

जाड़ा शुरू हो गया था और स्टेशन के चारों ओर अगम अँधेरा दूर-दूर तक फैलता चला गया था। टिकट लेने वाले बाबू अपनी पोशाक में स्टेशन फाटक पर बड़ी चुस्ती से खड़े थे।

बाबा संमोहानन्द के यहाँ किधर से जाना ठीक होगा-क्यों न बाबू से ही पूछ लूँ? अभी उधर मुड़ने ही वाला था कि ट्रेन जाने वाली दिशा से एक आवाज आयी-"नकछेद पण्डित जी!"

पुकारने वाले नौजवान की उम्र पचीस से ऊपर नहीं रही होगी। मैं उसे साश्चर्य देखने लगा। मुझे जानने वाला तो वहाँ कोई नहीं था! इस नाम से तो केवल एक विशिष्टव्यक्ति हीमुझेपुकारता है। निकट पहुँचकर उसने मुझ से कहा-"मुझेआपकोरिसीवकरने तथा आपकी व्यवस्था करने के लिए बाबा संमोहानन्द ने भेजा है।"

"बाबा संमोहानन्द ने?"

"हाँ, शाम को उन्होंने मुझसे अकेले में बुलाकर कहा था कि पैन्ट-कोट पहने एक सज्जन रात की ट्रेन से उतरेंगे। मैं उन्हें नकछेद पण्डित कहकर पुकारता हूँ। पैंतीस की उम्र होगी। उनके बायें कंधे से एक लंबा झोला लटकता होगा और उनका दाहिना हाथ बार-बार अपने चश्मे को ठीक करने में मशगूल होगा। मैंने आपको उतरते ही पहिचान लिया था।"

"अच्छा!"

फिर भी अनजान जगह थी। सो मैं थोड़ा असमंजस में पड़ गया। मैंने अपना चश्मा ठीक करते हुए कहा,- "लेकिन बाबा संमोहानन्द

से तो मैं कभी मिला नहीं। वे मुझे कैसे जानते हैं ? यह जरूर सही है कि यहाँ नूनखार में उन्हीं से मिलने आया हूँ।''

''बाबा कालज्ञानी हैं।'' युवक ने सस्मिति कहा :- ''वे सब कुछ जान लेते हैं। आप संकोच न करें, आइए।''

रास्ते में उसने बताया कि बाबा ने अपनी बैठक की बगल में मेरे जैसे दूर से आने वाले बाहरी लोगों के लिए आधुनिक ढंग के दो आवास बनवा लिये हैं। मुझे वहीं ठहरना है। बाबा मुझसे सुबह ही आठ बजे वाली बैठक में मिलेंगे।सात बजे तो वे सोने चले जाते हैं।

वह रहनेवाला तो यहीं का है; लेकिन मुख्य रूप से बम्बई में रहता है। वहाँ पर उसके पिता की मसाले तथा गेहूँ, चना वगैरह पीसने की चक्की है। उसका नाम फणीशमणि है। बी०ए० तक पढ़ा है और पिता जी के काम-धाम में हाथ बँटाता है। पिछले साल एक दुर्घटना हो गयी। तब से वह यहीं पर अपना अधिकांश समय बाबा के सान्निध्य में बिताता है।

सुबह आठ बजे तैयार होकर फणीश के साथ मैं बाबा संमोहानन्द की बैठक की ओर चला। धूप निकल आई थी। और बड़ी भली लग रही थी। एक मकान से निकलकर नयी सज-धज के साथ कोई संभ्रान्त परिवार संभवतः बाबा से मिलने के लिए जाता दिखाई पड़ा।

बैठक के द्वार पर पहुँचते ही मेरे मुँह से हठात् निकला-

''अरे! ये तो ब्रजवल्लभदास जी मसानी हैं! वही धोती-कुर्ता, वही जाकिट, वही टोपी!''

''अच्छा! यहाँ तो ये बाबा संमोहानन्द के नाम से जाने जाते हैं।''

''विचित्र बात है!''

"कुछ विकास-विभाग के, कुछ स्टेशन के लोग तथा कुछ अगल-बगल के स्कूल-कालेज के अध्यापक बाबा से भेंट करने के लिए प्रायः चले आते हैं। कोई कुछ पूछ बैठता है तो बाबा उसका समाधान करते हैं, जो एक तरह से प्रवचन सा हो जाता है। आइए भीतर आइए।"

बाबा संमोहानन्द ने मुझे देख लिया था। हँसते हुए पास बैठने का इशारा करने लगे। मैंने निकट पहुँचकर प्रणाम किया। मेरा चेहरा कुतूहल तथा आन्तरिक आनन्द से कुछ-कुछ लाल-सा हो रहा था। बाबा बड़े सरल भाव से बोले-

"तुम्हें बड़ा अजीब लग रहा होगा! मसानी बाबा! क्यों?"

"मैं तो कल्पना भी नहीं करता था कि जिस व्यक्ति से मिलने जा रहा हूँ वह आप होंगे। मेरी खुशी मुझसे सँभाले सँभल नहीं रही है। कितने वर्ष हो गये आपने अपनी कोई खबर ही नहीं दी। हम लोगों ने आपको बहुत मिस किया बाबा।"

बाबा का मुँह बन्द था और अन्तर का सारा हर्ष उनके चिकने गालों तथा संमोहक आँखों पर फैल गया था। वे मुझे बड़े स्नेह से देखे जा रहे थे।

"यहाँ ठहर जाने की कहानी बड़ी रोचक तथा एक अर्थ में बड़ी अलौकिक है। तुम्हें बाद में बताऊँगा।" ऐसा कहकर वे आये हुए लोगों से मेरा परिचय कराने लगे। कुल मिलाकर पन्द्रह लोग थे।

बैठक बहुत साफसुथरी थी। लम्बी-चौड़ी दरी के ऊपर वैसा ही लम्बा-चौड़ा फूलदार गलीचा बिछा हुआ था। बाबा के लिए कुश के आसन पर मृगचर्म और उसके ऊपर आसन के आकार की सुन्दर सी नीली मखमल बिछी हुई थी। बाबा की परिष्कृत रुचि तो सदा से मशहूर रही है। एक ओर बड़ी सुगंधित अगरबत्ती जल रही थी। बाबा के पैरों के पास गेंदे के ढेर सारे फूल पड़े हुए थे।

बाबा संमोहानन्द जब शान्त होकर लोगों की ओर उन्मुख हुए तो एक अध्यापक से लगने वाले सज्जन ने श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर बाबा से कहा- ''बाबा ! *'अन्धेनेवनीयमाना: यथाऽन्धा:'*-*यह उक्ति* प्रायः सुनाई पड़ती है। इसे आप साफ करते तो हमारा बड़ा उपकार होता।''

उनकी बात सुनकर बाबा संमोहानन्द कुछ देर शान्त रहे, फिर बोलने लगे-''कबीर साहब ने इसी बात को बोलचाल की भाषा में इस प्रकार कहा है- *'अंधा अंधहिं ठेलिया दोनों कूप परंत।'* अंधा अंधे को ठेलता है और दोनों कुएँ में गिरते हैं। कबीर साहब बड़े मार्मिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। जिला सुल्तानपुर में एक बड़े सिद्ध पुरुष हुए हैं। वे कहा करते थे- *'शंकरवा किताबन के जंगल में भटकि गवा, तुलसिया दरवाजे तक पहुँचा रहा; लेकिन कबिरवा त ड्योढ़ी लाँघि गवा रहा।'*''

शंकराचार्य को वे पुस्तकों के जंगल में भटका हुआ मानते थे। तुलसीदास द्वार तक पहुँच गये थे और कबीर तो भीतर दाखिल हो गये थे।

तो कबीर साहब-सीधे सादे शब्दों में गजब की बातें कह जाते हैं। नपे-तुले शब्द और उनमें छिपी हुई भेदभरी बातें। वे कहते हैं कि अंधा अंधे को ठेल रहा है। इशारे से सँभल कर खुद या उसे ले चलने की बात नहीं हो रही है। वह ठेलता है। धक्का देता है। 'मैं जो रास्ते को जानने वाला तुझे आगे बढ़ने को कह रहा हूँ और तू ठमकता है। मुझ पर विश्वास नहीं करता। आगे चल।'' ऐसा कहकर धक्का देता है। कितना गर्वीला है धक्का देने वाला अंधा! अपने ऊपर उस अंधे को कितना विश्वास है। ध्यान देने की बात है। एकदम बेधड़क, धक्का देता है। 'चल, बेहूदा कहीं का। मुझे समझता क्या है!' दोनों कूप परंत!

कबीर साहब के हिसाब से लगता है यह घटना कहीं एकान्त में घट रही है। वरना अगल-बगल में मौजूद कोई आदमी उनकी इस हरकत को देखता तो आवाज देकर दौड़ पड़ता और उन्हें तुरन्त

सँभालता कहता-'क्या कर रहे हो ? आगे का ख्याल नहीं और धक्का देते हो ? न अपनी लाठी से टटोलते हो, न आगे वाले कों टटोलने का मौका देते हो।'

गुरुओं की तो यही हालत है। सब कुछ तो एकान्त में ही घटता है। दोनों कूप परन्त। धक्का देने की नौबत कब आती है ? पिछला अंधा अगले अंधे पर नाराज हो रहा है। नाराजगी में यह धक्का दिया जा रहा है। सप्रेम नहीं। और कबीर सांहब ने "धक्का" शब्द का क्या अद्भुत प्रयोग किया है। धक्का ! अगला लुढ़का तो पिछला कैसे सँभल पायेगा ? किसे थामेगा ? अवलंब तो नीचे गया ! दोनों कूप परंत।

कबीर साहब इन दोनों गुरु-शिष्यों को कुएँ में गिरता हुआ क्यों कह रहे हैं ? इसलिए कि ऊबड़-खाबड़ भूमि होती, ऊँची-नीची जमीन होती तो ऊपर से नीचे गिर पड़ते। खैर, थोड़ी चोट लगती। बहुत होता तो फ्रैक्चर हो जाता। कोई बात नहीं। कुछ दिनों की बात होती। फिर सब कुछ ठीक हो जाता। नहीं। बात ऐसी नहीं है। कूप उस कुएँ को कहते हैं, जिसमें पानी होता है। कबीर साहब ने गड्ढे का नाम नहीं लिया। कूप-पानी वाला कुआँ। घटना एकान्त में घट रही है। पानी वाले कुँए में पतन हो रहा है। कोई सुनने वाला नहीं। गिरने पर थोड़ी देर तक छपका मारोगे, दीवार से लगोगे, आवाज दोगे, लेकिन कब तक ? दोनों कूप परंत। कबीर साहब ऋषि हैं। बड़े सार्थक शब्दों का प्रयोग करते हैं।"

बाबा फिर थोड़ा हँसकर बोले- "परंत को आप पड़ + अंत के रूप में तोड़ सकते हैं। कूप में पड़े और फिर अंत।" सबका चेहरा हल्की हँसी से धुल गया।

बाबा आगे बोले-"गौर कीजिए। धक्का देने वाला पीछे, धक्का खाने वाला आगे। गुरु पीछे, शिष्य आगे। यह भयभीत गुरु का लक्षण है। सामने से कोई संकट आयेगा तो पहले इस शिष्य पर आयेगा। तब तक मैं कुछ सँभल जाऊँगा। यह मरे तो मरे, जाय तो जाय। यहाँ मामला उल्टा है। गुरु पीछे शिष्य आगे। ऐसा कहीं होता है ? कबीर साहब नें कहीं कहा भी है - *'आगे से सतगुरु मिला।'* सद्गुरु सदा आगे होता है। मार्गदर्शक का तात्पर्य क्या है ? फिर चलना तो वहाँ है, जहाँ कोई पगडंडी तक नहीं दिख रही। सद्गुरु हमेशा आगे चलता है। उसे कोई भय नहीं। उसे भी भय होगा तो वह अभयमुद्रा लेगा कैसे ? सद्गुरु वही है, जो सदा आगे-आगे चलता है।

दोनों कूप परंत। कुएँ में गिरे-कूप जल भी खराब हुआ। बहुत पानी निकालना पड़ेगा तब जाकर स्वच्छ होगा। ऐसे गुरु-शिष्य जहाँ संचरण करते हैं वहाँ का वातावरण बिगड़ कर रहता है।

पता नहीं आपको एक अंधे व्यक्ति की इस विशेषता का पता है या नहीं ? यदि वह आपको पकड़ ले तो आप छुड़ा नहीं सकते। कभी आप आजमाकर देखें। इतनी ताकत से वे पकड़ते हैं कि आप अपने-आप को छुड़ा नहीं सकते। हाथ छुड़ाकर भाग जाने की केवल एक घटना हुई है। सूरदास ने कहा है-*'बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोंहि।'*

सूरदास सें अपनी बाँह केवल भगवान् छुड़ा पाये। कोई और नहीं छुड़ा सकता। सूरदास को अपनी पकड़ पर शायद पहली बार ग्लानि हुई। बोले-"निबल जानि के मोंहि!" तो अंधे गुरु आपको पकड़ लें तो कभी छोड़ेंगे नहीं। यह अंधे गुरु की एक पहचान है।

एक अंधे व्यक्ति की दूसरी बड़ी विशेषता होती है उसकी स्मृति। जिस बात को एक बार सुन लिया वह अमिट हो गयी। कभी भूलती नहीं और सारे अंधे गुरुओं को सभी शास्त्र कण्ठस्थ होते हैं। प्रश्न के साथ-साथ समाधान हाजिर है। अनुभव नहीं, किताबी समाधान। ऐसा समाधान दो कौड़ी का होता है। उससे कोई आदमी कहीं पहुँचता नहीं। लेकिन ऐसे व्यक्ति के सामने आप बिजड़ित हो जाएंगे। आप अपनी न समझ पाने की कमजोरी पर ग्लानि से भर जायेंगे ; क्योंकि वह इसकी बार-बार याद दिलाता रहेगा। बोलेगा -। "यह बड़ी ऊँची बात है। कठिन बात है। जल्दि लगती नहीं है। तुम्हारे पास इतनी बुद्धि नहीं है कि तुम इसे समझ सको।" बुद्धिहीनता का आरोप करने वाले अंधे गुरु की यह दूसरी पहचान है। उनके पास से तुम आनन्द से भरे हुए, हल्के होकर नहीं उठोगे विषाद से भरे हुए उठोगे, भाराक्रांत !

कबीर साहब के शब्द बहुत दूर तक इशारा करते हैं और उनके शब्दों से अर्थ के झरने फूटते रहते हैं।

यहाँ 'अंधा' शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसका चक्षुरुन्मीलन नहीं हुआ है। जिसकी आँखें अभी खुलीं नहीं है। याद है ? गुरुपूजा में एक मन्त्र है -

"अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

वे इशारा करते हैं कि, जिस व्यक्ति की आँखें अभी तक बंद पड़ी हैं वह गुरु जैसे महत्वपूर्ण तत्व की भूमिका निभा रहा है और दंभ के साथ मार्गदर्शन करने निकल पड़ा है। अगले अंधे की तो कोई गलती ही नहीं है। वह चक्षुरुन्मीलन के लिए तो भटक ही रहा है। बेचारा कितना भला है कि चक्षुरुन्मीलन के बगैर भी

आगे-आगे चल रहा है। वह तो एकदम निर्दोष है। सारा दोष तो धकेलने वाले उस दंभी गुरु का है।''

इतना बोलकर बाबा संमोहानन्द चुप हो गये और सामने पड़े गेंदे के एक फूल को उछालने लगे।

प्रश्नकर्ता किसी डिग्री कालेज में संस्कृत के प्रवक्ता थे- पण्डित रामखेलावन शास्त्री। बाबा संमोहानन्द की बातें सुनकर गद्गद हो गये, बोले-

''जो बातें विद्वन्मण्डली में भी स्पष्ट नहीं हो पातीं, उन्हें आप ऐसा रगड़कर साफ कर देते हैं कि प्रकाश हो जाता है।'' फिर अपनी बोली में यह कहते हुए उन्होंने अपना मत्था जमीन पर टेक दिया-

''अँजोर हो गइल!''

शास्त्री जी का अन्तिम वाक्य सुनकर सबके चेहरे खिल गये।

रास्ते में जो परिवार हमें आता हुआ दिखाई पड़ा था वह पटना से आया था। वह यहाँ पर अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ ठहरा हुआ था और दो दिनों से बाबा के सत्संग का आनन्द ले रहा था। पण्डित रामखेलावन जी के चुप होते ही उस परिवार की एक सदस्या युवती ने कुछ विनोदपूर्ण मुद्रा में बाबा संमोहानन्द से-मेरी समझ में, एक बड़ा कड़ा प्रश्न किया-

''बाबा! हमारे धर्मशास्त्र हमेशा बड़ी ऊँची-ऊँची मर्यादाओं की चर्चा करते रहते हैं; लेकिन ऋषि-मुनि अपने आचरण से तो बड़े लंपट लगते हैं। पराशर मुनि एक धीवर की कन्या पर मोहित हो गये थे, जिसके शरीर की गंध कोसों तक फैलती थी और एक

अप्सरा ने विश्वामित्र की तपस्या भंग कर दी थी। बड़ा विरोध सा लगता है। इस पर मैं आप से कुछ सुनना चाहती हूँ।''

उसकी प्रच्छन्न हँसी किसी चुनौती से कम नहीं थी और वह ऐसे सभी महापुरुषों पर प्रश्न-चिह्न सी लगाती हुई लग रही थी। उसका प्रश्न सुनकर हम लोग सन्नाटे में आ गये; लेकिन बाबा संमोहानन्द उसकी ओर देखते हुए सरल भाव से बोले –

''बेटी ! महर्षि पराशर लंपट नहीं हैं। वे कोई कामी पुरुष नहीं हैं लेकिन महाभारत के वर्णन से स्वभावतः ऐसा ही लगता है। तुम जानती हो महाभारत किसने लिखा है ?''

''महाभारत तो व्यास का लिखा हुआ है।'' उसने बड़े सहज भाव से उत्तर दिया।

''हाँ वह वेदव्यास, कृष्णद्वैपायन व्यास, भगवान् व्यास प्रणीत है। तुम जानती हो कि महर्षि पराशर का वेदव्यास से क्या सम्बन्ध है और महर्षि पराशर की कुल-परम्परा क्या है ?''

''नहीं ! यह तो मुझे नहीं मालूम। संभवतः पराशर मुनि व्यास जी के पिता थे।''

''तुम ठीक कह रही हो। महर्षि पराशर कृष्णद्वैपायन व्यास के पिता थे। और वे अपनी पुस्तक में अपने पिता की प्रेम-चर्चा कर रहे हैं ? प्रेम-चर्चा ही नहीं, उनकी मोहातुरता का एक चटखारे के साथ विशद वर्णन कर रहे हैं ? क्यों ?

सच्ची बात तो यह है कि हम लोग अपने अतीत से इतना कट गये हैं कि भटक जाते हैं। कट नहीं गये हैं, काट दिये गये हैं और हम लोगों को अपनी परम्परा से काटने के लिए तमाम लोगों ने मिल-जुलकर एक लम्बे समय तक बड़ा काम किया है।"बाबा

संमोहानन्द कुछ देर के लिए चुप हो गये। कुछ क्षण के लिए वे कहीं डूब गये थे।

''बेटी! महर्षि पराशर कालज्ञानी थे। उनके द्वारा लिखी हुई स्मृति है-श्री पराशर स्मृति। कलि में उस स्मृति की महत्ता का बड़ा उल्लेख है। जिस समय वह धीवर की कन्या उन्हें उस पार, उस देवर, उस द्वीप की ओर ले जा रही थी, महर्षि पराशर निश्चल भाव से कहीं डूबे हुए थे। वे देख रहे थे कि कोई बड़ी शक्ति उतरना चाहती है। वे देख रहे थे कि वह शक्ति उनके माध्यम से अवतरित होने के लिए बडी आतुर है। और यदि उस शक्ति को उतारने में विलम्ब हुआ तो पता नहीं कब तक के लिए वह अनंत में फिर विलीन हो जायेगी। वे देख रहें हैं किं वह शक्ति कोई मामूली शक्ति नहीं है। वह शक्ति तो उनसे भी सहस्त्रगुना शक्तिमान् है। वे अपने माध्यम से उतरने वाली एक अपरिमित शक्तिशाली ज्योति का दर्शन कर रहे हैं, जो उनके साथ-साथ अंतरिक्ष में चल रही है और समय रहते उतरी तो उतरी नहीं तो गयी। महर्षि पराशर इस सत्य को देख रहे हैं, फिर चिंतामग्न होकर अपनी आँखें खोलते हैं। उनकी आँखें धीवर-कन्या सत्यवती पर पड़ती हैं और वे सब कुछ जान लेते हैं। वे जान जाते हैं कि इस क्षण इस समूची धरती पर इस धीवर-कन्या के अतिरिक्त कोई दूसरी स्त्री उस महाशक्ति के बोझ को सँभाल पाने में समर्थ नहीं है। बेटी! क्या उस महाशक्ति की कुछ अद्भुत विशेषताओं की ओर तुम्हारा ध्यान कभी गया है?''

''नहीं। इतना भर जानती हूँ कि उन्होंने महाभारत लिखा। उनके विषय में और कुछ खास नहीं जानती।'' उस युवती के चेहरे पर अब विनोद के लक्षण नहीं थे।

"तुम्हीं नहीं हम सभी अभागे हैं कि उनके विषय में बहुत कम जानते हैं। जो कुछ हम जानते हैं वह बस संयोगवश जानते हैं। बाइ द वे। ताकि हम चटखारे मार सकें।

उस देवर में, उस द्वीप में जन्म लेने के कारण कालान्तर में वे द्वैपायन कहे जाने लगे। जैसे, आज के पूज्य देवरहा बाबा! कृष्णवर्णी होने अथवा कृष्ण के परम अनुरागी होने के कारण कृष्ण द्वैपायन। महाभारत की भूमिका में, अपने 'जय' काव्य में उन्होंने इस बात को स्पष्ट भी किया है। वे कहते हैं कि और बातें तो बाइ द वे हैं, मेरा मुख्य उद्देश्य तो वासुदेव का संकीर्तन करना है।

महर्षि व्यास ने ही संहिताओं को-जिन्हें हम वेद कहते हैं। सर्वप्रथम चार भागों में बाँटा और प्रत्येक भाग के लिए उन्होंने एक-एक विशेषज्ञ-स्पेशलिस्ट भी तैयार किया। उनके उन चार महान् शिष्यों में जैमिनी का नाम तो बहुत ही प्रसिद्ध है। वेदमन्त्रों के उस आकलन-संकलन के कारण लोग उन्हें वेदव्यास कहने लगे।

अपना देश महर्षि व्यास की परिकल्पना है। इस देश का धर्म, दर्शन तथा साहित्य उनकी मौलिक विचार-धाराओं का फैलाव है। सारे कवि, चिंतक तथा विभिन्न सम्प्रदायों के प्रणेता महर्षि व्यास के मानस-पुत्र हैं। उन्होंने इतने विशाल तथा वैविध्यपूर्ण साहित्य की सर्जना की है कि जीवन का कोई भी अंग उससे छूटता नहीं है। बेटी! तुम गीता के प्रस्तोता का नाम बता सकती हो?"

"गीता का ज्ञान भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया।"

"ठीक है। सर्वप्रथम वह संदेश भगवान् ने अर्जुन को दिया। लेकिन वह ज्ञान तो युद्ध-भूमि तक ही, कुरुक्षेत्र तक ही, अर्जुन तक ही सीमित रह जाता यदि उसे कहीं अन्यत्र, तत्काल ग्रहण न किया जाता। यदि गीता के संदेश को किसी अन्य तल से ग्रहण

कर लेने की व्यवस्था न की गई होती तो वह अद्‌भुत ज्ञान अंतरिक्ष में खो गया होता। और यह जानकर तुम्हें आश्चर्य होगा कि महाभारत के एक अंश के रूप में पायी जाने वाली यह गीता डिक्टेट की गयी थीं- बोलकर लिखायी गयी थी। महर्षि व्यास उसके वक्ता हैं और लेखक श्री गणेश हैं।

जिस गीता का अनुवाद दुनिया की सभी समुन्नत भाषाओं में प्राप्त होता है, जिसको इतने बेजोड़ ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि अपने देश के विभिन्न संप्रदायों ने उसकी अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है; शास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि जिसका 'इदमित्थम्' नहीं है यानी हमने इसके सार को समझ लिया है और वह बस ऐसा है-ऐसा कोई कहने वाला है? हर घर में जिस गीता का रहना जरूरी है उस गीता को महर्षि व्यास ने बोलकर लिखाया था - डिक्टेट किया था।

बेटी ! तुमने कहा था कि उनकी माँ योजनगंधा थी। ऐसे विलक्षण बेटे को जन्म देने वाली माँ अगर योजनगंधा थी तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बेटी ! इतना जान लो कि आज तक कोई दूसरा कृष्ण द्वैपायन पैदा नहीं हुआ और आज तक तमाम माएँ पैदा तो हुईं, लेकिन कोई माँ योजनगंधा की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकी। और बेटी ! महर्षि पराशर उस महाशक्ति के अवतरण माध्यम हैं। ऐसे प्रसंग का उल्लेख उनके जीवन में फिर कभी नहीं मिलता। वे कामी नहीं थे। योजनगंधा सत्यवती भी कृष्ण द्वैपायन जैसा पुत्र फिर नहीं उत्पन्न कर सकीं। वे दोनों महर्षि व्यास के अवतरण माध्यम थे।"

बैठक में गहन शांति छा गयी।

कुछ रुककर बाबा संमोहानन्द फिर बोले-

"बेटी ! तुम 'दुर्गासप्तशती' को तो जरूर जानती होगी। वह मंत्रात्मक है, संपूर्णतः मंत्र है। वह ग्रन्थ भारतीयों का कंठहार है। क्रम के साथ उसका पाठ करने वाले अपने को बड़ा सुखी तथा धन्य मानते हैं। ऐसे लोगों के विषय में बड़ी विलक्षण बातें सुनी जाती हैं, देखने में भी आती हैं। वह 'दुर्गासप्तशती' भी महर्षि व्यास का डिक्टेशन है और 'मार्कण्डेय पुराण' में पायी जाती है। तुमने उसका पाठ तो कभी किया ही होगा और उसकी पुष्पिका में उस पुराण का नाम भी जरूर देखा होगा।"

वह युवती बड़े प्रसन्न भाव से बाबा को सुन रही थी, बोली– "हाँ बाबा ! उसके बिना तो 'नवरात्र' का कोई अर्थ ही नहीं है। लेकिन बाबा ! क्या इतने सारे पुराणों के रचयिता एकमात्र व्यास जी ही हैं ? विश्वास नहीं होता।"

"क्यों नहीं विश्वास होता ? तुमने श्री अरविन्द के साहित्य को कभी देखा है ?"

"उसे तो नहीं देखा।"

"अपने विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में देखना, फिर विश्वास हो जाएगा। श्री अरविन्द भगवान् व्यास की अगली कड़ी हैं। बहरहाल, तुमने श्री रजनीश साहित्य तो देखा होगा ? कितना विपुल साहित्य है।"

"हाँ, उनके पुस्तकों की सूची तो बड़ी विशाल है।"

"फिर भी विश्वास नहीं होता ?"

"अब विश्वास हो गया बाबा !" इतना कहकर पटना की वह युवती बड़े मुक्त भाव से हँसने लगी। शांत होकर बोली–

"लेकिन महारास की चर्चा तो रह ही गयी। उस पर कुछ सुनना चाहती हूँ बाबा !"

"बेटी! कुछ कल सुबह के लिए भी छोड़ दो। तुम लोग कल शाम की गाड़ी से जाओगे न?"

बाबा संमोहानन्द दिन में ग्यारह बजे के पहले ही भोजन कर लेते हैं। उनके भोजन को भोजन नहीं कहना चाहिए, वह नाश्ते से भी उतरा हुआ होता है। अत्यन्त सूक्ष्म। भोजन के बाद बाबा ने अपने कमरे में मुझे तीन बजे पहुँचने के लिए कहा। अलग होते समय बोले–

"तीन बजे आ जाना। मैंने तुम्हें एक खास प्रयोजन से बुलाया है।"

"आपने बुलाया है? मैं तो सूबा सिंह के कहने पर इधर निकल आया। हम लोग यदा-कदा आपका नाम तो जरूर सुनते रहे हैं; लेकिन यह कहाँ पता था कि आप कौन हैं?"

"ठीक कह रहे हो। सूबा सिंह ने माध्यम का काम किया था।"

"माध्यम?"

"हाँ तीन बजे आना तो खुलकर बातें होंगी।"

मैं और फणीश दोनों साथ-साथ कमरे की ओर जा रहे थे। फणीश बड़ा आकर्षक युवक है। हल्का कृष्णवर्ण और बड़ी-बड़ी शांत आँखें। अत्यन्त तगड़ा शरीर और लम्बी बाँहें। धीर-गंभीर और चाल में मस्ती। मैंने उससे चलते-चलते पूछा– "फणीश! तुम बाबा संमोहानन्द से कैसे जुड़ गये? कल तुम किसी दुर्घटना की बात कर रहे थे!"

"हाँ, परसाल एक बड़ी विचित्र घटना हुई थी। एक तिलिस्म की तरह।"

**

बेतिया के जंगल में छिन्नमस्ता का अट्टहास

मैं छिन्नमस्ता का उपासक रहा हूँ। मुझे उनकी क्रम-पूजा का ज्ञान बिहार के एक प्रसिद्ध गुरु से मिला था। पर साल वे बंबई आये थे और हमारे यहाँ ही ठहरे हुए थे। मुझे उनका व्यक्तित्व और उनकी बातें दोनों बहुत आकर्षक लगीं। वे छिन्नमस्ता के सिद्ध उपासक माने जाते हैं और बड़े सरल हैं। परसाल पिताजी की सहमति से मैं उनके साथ ही बेतिया चला आया।

मेरे गुरु ने प्रारम्भिक क्रियाओं के बाद मुझे छिन्नमस्ता की क्रम-पूजा समझानी शुरू की। उसमें कुछ दिन लग गये। छिन्नमस्ता मुझे अपनी इष्ट देवी जान पड़ीं और मुझे उनके मन्त्र-जप में धीरे-धीरे बड़ा आनन्द मिलने लगा। काफी समय तक मैं उनके मंत्र का जप करता और बताये हुए अर्थ का अनुसंधान करता रहा। छिन्नमस्ता की पूजा बड़ी गूढ़ है और वे बड़ी उग्र देवी है।

लगभग एक महीने के बाद मेरे गुरु ने मुझे पुरश्चरण की आज्ञा दी। वे मुझे बेतिया के जंगल में ठीक आधी रात को एक विशेष स्थान पर ले जाते, जो छिन्नमस्ता का एक संक्षिप्त-सा मंदिर था। बहुत छोटा मंदिर-एक स्थल मात्र। वे मुझे व्याघ्रचर्म पर बैठाते, दिग्बन्ध करते और एक खास मात्रा में एक तेज मद्य पीने को देते, जिसके साथ अल्पमात्रा में भुना हुआ मांस भी होता था। कुछ देर बाद वे मुझे मंत्र-जप की आज्ञा देकर उठ जाते और

आस- पास एकान्त में कहीं खो जाते। मैं मन्त्रानुसन्धान में लग जाता।

पुरश्चरण के क्रम में वह अन्तिम रात थी। तीसवाँ दिन। अमावस की रात, क्वार का महीना मैं व्रतस्थ तो था ही, उस रात गुरु- शिष्य हम दोनों ने लगभग दस बजे स्नान किया। फिर निश्चित कपड़े पहनकर रक्त चंदन तथा रक्त पुष्पों की मालाएँ धारण करके आवश्यक पूजा-सामग्री लेकर हम लोग जंगल की ओर रवाना हो गये। जाते समय रास्ते में दाहिनी ओर एक काली बिल्ली बैठी हुई मिली, एक बड़ा तगड़ा कुत्ता सावधान मुद्रा में बैठा हुआ दिखाई पड़ा तथा एक उल्लू का स्वर सुनाई पड़ा, जो बोलकर बाँयी ओर से उड़ता हुआ दाहिनी ओर जाकर अँधेरे में कहीं खो गया था।

एकाएक गुरु बोले - ''शकुन अच्छे हैं। समय ठीक है।''

नदी पार करके, ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर टार्च के सहारे अन्धेरे में चलते हुए हम लोग माँ छिन्नमस्ता के लघु मंदिर पर बारह बजे से पहले पहुँच गये।

अमावस की रात। 'जंगल' अंधकार का गहन फैलाव और अंतहीन सन्नाटा। अपने गुरु से मैंने सुना है कि उस दिन महेश्वर की एक विशेष शक्ति-कावेरी शक्ति जागृत हो जाती है और उपासकों की बड़ी सहायता करती है। साधकों के लिए दूसरी रातों की अपेक्षा अमावस की रात इसीलिए बड़ी महत्वपूर्ण है। श्मशान

के विषय में वे कहते हैं कि शवदाह की भूमि तो श्मशान है हीं; लेकिन मानस प्रत्यक्ष भूमि श्मशान से भी बढ़कर होती है। वह भूमि महाश्मशान होती है। वे कहते हैं कि वह भूमि कहीं भी हो सकती हैं। स्वतंत्र रूप से इसके शब्दार्थ तक मैं पहुँच नहीं पाया हूँ।

लेकिन उस रात मुझे अपनी मानसिक स्थिति डाँवाडोल लगी। मैं बार-बार सिहर रहा था। और मेरे भीतर भय की एक अनबूझ लहर सी उठ रही थी। मैं सोच रहा था - ''अंतिम रात है। बस कुछ घण्टों की ही तो बात है। घबराहट शायद इसीलिए हो रही है। आवेश का कारण शायद यही है।''

सुनसान जंगल में उस जगह की तजबीज किसी बहुत बड़े साधक ने की होगी। वह जगह एक बड़ी खड़ी ऊँचाई पर है। अच्छी-भली देखी हुई और समझी हुई न हो तो रात के अँधेरे में उस दुर्गम पहाड़ी पर चढ़ना बड़ा खतरनाक है। शिखर-भूमि अच्छी है, चौरस है, फैली हुई है। उसी चौरस भूमि के पूर्वी छोर पर वह छोटा सा मंदिर इतने करीने से स्थापित है कि नीचे से तो उसका पता नहीं चलता और उसके भीतर रखे हुए ताँबे के एक बहुत बड़े पात्र को पर्याप्त तेल से भरकर उसमें यदि दीप संयोजन कर दिया जाय तो उसकी बत्ती कम-से-कम दो पखवारे तक निर्विघ्न जलती रहेगी। मंदिर के बाहर उनचासों पवन अपनी चक्रवात-लीला भले ही दिखलाते रहें, दीपक की लौ अकम्पभाव से जलती रहती है। मैंने वहाँ दीपक को हमेशा जलते हुए पाया है। रक्तपान करती हुई वस्त्र-विहीन योगिनियों के साथ माँ छिन्नमस्ता की लाल पत्थरों की छोटी-सी एक बड़ी सुन्दर मूर्ति है। सारी मूर्तियाँ लाल पत्थर के कटावदार सहस्रदल कमल पर खड़ी है। और स्नान-जल एक ओर से बहकर पूजक के पात्र में इकट्ठा हो जाता है।

वह छोटा सा मंदिर बड़ा अनूठा है। जिस छोटे द्वार से झुककर उसमें प्रवेश किया जाता है, वह द्वार प्रातःकालीन पूजा के बाद बन्द कर दिया जाता है। ठीक सूर्योदय के समय उस पहाड़ी के शिखर पर एक बजते हुए घंटें की आवाज सुनाई पड़ती है और फिर कहीं कुछ नहीं – जैसे उस शिखर पर कुछ है ही नहीं। उस मंदिर में देवी की प्रातःपूजा का अधिकार जंगल के पार वाले गाँव के किसी गुप्त व्यक्ति को है।पूजा करने के बाद द्वार बंद करके वह व्यक्ति द्वार की कुंजी एक आले में रखकर चला जाता है। उस मंदिर की व्यवस्था का यही संक्षिप्त-सा क्रम है, जो न जाने कब से चला आ रहा है। कभी कोई बिरला उपासक किसी सूत्र के सहारे वहाँ पहुँचता है। वरना उस शक्ति-पीठ का पता किसी को नहीं है।

मंदिर में प्रवेश करके मेरे गुरु ने मूर्ति की दाहिनी ओर घी का दीपक जलाया। निरन्तर जलने वाला बड़ा दीपक बाँयीं ओर यथावत् जल रहा था। साथ में लाये ताँबे के कलश-जल से उन्होंने सभी मूर्तियों को विधिवत् स्नान कराया। धुले हुए वस्त्र से उनका प्रोञ्छन किया। आधार रूप कमल के अरघे को भी उन्होंने अच्छी तरह स्वच्छ किया। फिर पर्याप्त मद्य से वे मूर्तियों को स्नान कराने लगे। साथ में कोई विशेष मन्त्र पढ़ते जा रहे थे। वह मद्य अरघे में एकत्र होकर एक ओर से धीरे-धीरे बहता हुआ एक दूसरे ताम्रपात्र में गिरता जा रहा था। उस तेज मद्य की गन्ध उस लघु मंदिर को सुवासित करने के बाद बाहर फैलने लगी थी। जल के हल्के छींटें देने के बाद उन्होंने सभी मूर्तियों को खूब अच्छी तरह केवड़े का सेन्ट लगाया। फिर एक साथ ही उन्होंने बहुत सी सुगंधित अगरबत्तियाँ जलायीं और उनसे निकलते हुए धुएँ को वे उनके सामने कुछ देर तक घुमाते रहे। फिर वे माँ छिन्नमस्ता का अनेक

पुष्पों तथा मालाओं से श्रृंगार करने लगे। सहायक मूर्तियों को भी उन्होंने मालाएँ पहनायीं। फिर माँ के चरणों में प्रणाम करके चाँदी के एक बड़े कटोरे में उन्होंने कोई अन्य विशेष मद्य उन्हें समर्पित किया। चाँदी के छोटे-छोटे पान-पात्रों में अन्य योगिनियों को भी मद्य अर्पित किया गया। फिर आचमन कराकर उन्होंने घी के दिये से आरती उतारी। पुनःगंध, धूप-दीप निवेदन करके उन्होंने भुने हुए माँस का नैवेद्य लगाया और आचमन कराकर उन्होंने अपना मस्तक माँ छिन्नमस्ता के चरणों पर रख दिया। फिर वे सावधान बैठ गये तथा कोई मन्त्र पढ़-पढ़ कर उन्होंने एकत्रित मद्य की एक निश्चित मात्रा मुझे पाँच बार पीने को दी। साथ में माँस का एक-एक टुकड़ा भी देते जा रहे थे। प्रसाद स्वरूप मद्य की एक लघु मात्रा उन्होंने भी ग्रहण की और कपूर की आरती दिखाकर तथा कतिपय स्तुतियाँ पढ़ने के बाद उन्होंने नैवेद्य लेकर मुझसे बाहर चलने के लिए कहा। मैं मूर्ति की बाँयीं ओर अत्यन्त सीमित जगह पर बैठ कर अपने गुरु की पूजा-अर्चना को देख-समझ रहा था। पूरी प्रक्रिया में पैंतीस-चालीस मिनट लगे होंगे।

गुरु बड़े प्रसन्न लग रहे थे और उत्साह से भरे हुए थे। उन्होंने नियत भूमि पर मुझे व्याघ्रचर्म पर बैठाया और बोले-

"माँ के पान-पात्र का यह मद्य एक विशेष मद्य है। इसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में काले तीतर के इस माँस के साथ लेते रहो। काले तीतर का माँस माँ को प्रिय है और सिद्धिदायक है। उसी के रक्त में सुखाई हुई यह पर्याप्त अच्छत हैं। शक्ति के माँगने पर दायीं ओर रखे हुए इस कटोरे से तुम उसे बहुत कम मात्रा में अच्छत देते जाना। बहुत कम। एक बार में दो-चार दाना। बस। लेकिन माँगते ही तुरन्त देना। जरा भी विलम्ब न हो।

बेटा, तुम्हें आज बहुत सावधान रहना है। अत्यन्त सावधान। आज की रात तुम इस वीरभाव में डूब जाओ कि दुनियाँ की कोई ताकत तुम्हें इस आसन से नहीं हिला सकती। साथ ही यह भावना करो कि तुम माँ की उस निर्भय गोद में बैठे हुए हो, जहाँ इस दुनियाँ का कोई जन्तु प्रवेश नहीं कर सकता। प्रवेश कर ही नहीं सकता। प्रवेश कर ही नहीं सकता। प्रवेश कर ही नहीं सकता।'' ऐसा कह कर उन्होंने मेरे चारों ओर एक मण्डल खींच दिया और कोई मन्त्र पढ़ने लगे।

फिर मेरी ओर देखकर बोले - ''बेटा, लक्ष्य तक वे ही पहुँचते हैं जो परम साहसी होते हैं। किसी भी कदम पर तुम्हें डरना नहीं है। आँखें बन्द करके तुम्हें बस अपने मन्त्र का जप करते जाना है। न कुछ सोचना है, न कुछ सुनना है। सुनना है तो बस अपने मन्त्र की ध्वनि और सोचना है तो उसका मन्त्रार्थ। दुनिया में और कहीं कुछ नहीं है। यह मंदिर भी नहीं है, मैं भी नहीं हूँ।

बेटा, नैवेद्य ग्रहण करो। आसन-शुद्धि तथा विनियोग के बाद ध्यान कर लेना और मन्त्र-जप में डूब जाना। पौने बारह हो रहा है। श्मशान की शक्ति उठने लगी है। सावधान। मैं ओझल हो रहा हूँ।''

पण्डित जी ! आप इस बात को मानें या न मानें; लेकिन लगभग एक घंटे के बाद मैं अपनी बंद आँखों से उस जगह को ऐसे देखने लगा जैसे कि बहुत हल्के प्रकाश में मेरी आँखें खुल गयी हैं और मैं उस जगह का जायजा ले रहा हूँ। मैंने इस भय से अपने-आपको तत्काल सँभाला कि उत्सुकतावश मैं अपनी आँखें सचमुच न खोल दूँ और सचमुच में जायजा न लेने लगूँ।

तभी कहीं अगल-बगल सरसराहट की आवाज हुई। इतने दिनों से यहाँ बैठ रहा हूँ, ऐसी आवाज तो कभी नहीं सुनी। मैं क्षणभर के लिए भटक गया। मुझे ऐसा लगा जैसे मैं ठीक सामने की ओर देख रहा हूँ और यही कोई तीन-चार हाथ की दूरी पर एक चपल नाग अपनी कुंडली पर बैठकर अपना फन फैलाता जा रहा है। उसकी लपलपाती जीभ लगता था मुझे छू लेगी।

मैं दृढ़ता से मन्त्र- ध्वनि तथा उसके अर्थ में स्वयं को निमग्न करने लगा। मैं जैसे-जैसे स्वयं को डुबाने लगा वैसे-वैसे वह काल सर्प उग्र होता चला गया। उसकी फुफकार से लगता था कि वह कितने रोष में है। वह महा सर्प न जाने किस अपराध के कारण मुझे अपना बैरी समझ रहा था। कुछ क्षणों के बाद उसने अपना फन जोर-जोर से भूमि पर पटकना शुरू किया, जैसे अपने उठे हुए अग्रभाग से वह मुझे अच्छी तरह से पीट रहा हो। फिर एकाएक वह उछला और मेरे चारों ओर बड़ी तेजी से चक्कर मारने लगा। उसकी फुफकार जारी थी। और वह एक आहत नाग की तरह मुझे अपनी गुंजलक में लपेटकर तोड़ देना चाहता था। लेकिन यह क्या! अचानक मुझे लगा कि वह कहीं सरक गया। और सब कुछ शान्त! लेकिन मेरे मन के ऊपर इसके प्रभाव का हल्का सा परदा पड़ गया। भयभीत मैं नहीं था; लेकिन इस उपद्रव की एक हल्की सी परत मेरे मन पर पड़ गयी। मैं समझता हूँ सर्प रोष का वह क्रम कम-से-कम पंद्रह मिनट तो चला ही होगा।

पण्डित जी! आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उस समय मुझे यह जरा सा भी प्रतीत नहीं हुआ कि यह एक विघ्न था। ऐसा होता है। नहीं, एकदम नहीं। मन के किसी भी कोने में ऐसा विकल्प नहीं उठा था। वहाँ तो सब कुछ प्रत्यक्ष था, भौतिक था।

ऐसा लगा कि संकट कटा, प्राण बच गये। चलो जप तो नहीं छूटा। फिर माँ छिन्नमस्ता के ध्यान में डूबता हुआ कहीं और नीचे उतर गया।

पण्डित जी! आप मेरे शरीर को देख रहे हैं। मैंने इसे आरम्भ से ही साधा है और मैं अपने-आपको अपूर्व बल से भरा हुआ पाता हूँ। शायद इस शरीर की चुस्ती-फुर्ती ने ही मुझे उस मार्ग में आकर्षित किया था, वरना वह रास्ता तो बड़ा भयानक है। मेरे गुरु का शरीर भी बड़ा बलिष्ठ है। वे बड़े कसरती हैं और उनका व्यक्तित्व बड़ा शानदार है।

उस समय डेढ़ घंटे से कुछ ऊपर हो चला था। जब मैंने अचानक जंगल की ओर से घुर-घुर की बड़ी तेज आवाज करते हुए एक बहुत बड़े जंगली शूकर को अपनी ओर दौड़कर आते हुए देखा। नील वर्ण, लाल-लाल आँखें, डरावने नुकीले चमचमाते दाँत और अपूर्व फुर्तीला तथा बलशाली। कुछ दूर रुककर उसने मुझे अपनी लाल-लाल आँखों से कुछ क्षण तक घूरा, फिर सामने की कड़ी भूमि को अपने नुकीले दाँतों से इस भाव से खोदने लगा जैसे वह अपनी तथा अपने दाँतों की प्रचण्ड शक्ति का प्रदर्शन कर रहा हो। फिर वह हवा में अकस्मात् उछला और मुझे लगा कि उसके तेज दाँत मेरे पेट को बस फाड़ने ही वाले हैं तथा मेरा शरीर एक गेंद की तरह उछल कर सदा के लिए शान्त हो जाने वाला है। लेकिन शायद वह दूसरी ओर उछल गया था। और अपने असफल वार के कारण प्रचण्ड रोष में भरकर अपने पैने दाँतों से मेरे शरीर को बस फाड़ने ही वाला था। लेकिन उसका वह वार भी

खाली गया और उसका तिलमिलाया हुआ बलशाली शरीर जैसे क्रोध से काँपने लगा था। जैसे वार खाली जाने की घटना उसके जीवन में पहली बार घटी थी। फिर तो उसने मेरे चारों ओर की भूमि को कुछ इस अन्दाज से खोदना शुरू किया कि वह मुझे गड्ढा खोदकर जमींदोज करके रहेगा। चारों ओर धूल सी उड़ने लगी। उसके मुख से निकलती हुई घुर-घुर की आवाज में क्षोभ तथा आवेश का ऐसा मिश्रण था जो मेरी आत्मा में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की हल्की-हल्की लहर उठाने लगा था। यह निश्चित है कि मैं भयभीत नहीं था; लेकिन यह भाव जरूर उठने लगा था कि क्या हो रहा है, मैं कहाँ घिर गया हूँ, इससे निस्तार का उपाय क्या है और इस जप-काल में यह उपद्रव कहाँ से खड़ा हो गया ? लेकिन तभी मैंने अपने-आपको इस दृढ़भाव के साथ बड़ी जल्दी से समेट लिया कि यह बनैला शूकर अपनी लाल थूथन से धक्का देकर मुझे भले गिरा दे और वज्र सरीखे अपने दाँतों से मेरे शरीर को भले ही फाड़ दे ; लेकिन मैं अपने जप का त्याग नहीं करूँगा। फिर पण्डित जी ! क्षणभर के लिए इस भाव में डूबकर कि मैं अब समाप्त होने वाला हूँ , मैं कहीं और गहरे में उतर गया और अपनी मन्त्र- ध्वनि मुझे जोर-जोर से सुनाई पड़ने लगी। इसके कुछ ही क्षण बाद मेरे शरीर में आनन्द की एक ऐसी लहर उठने लगी जिसका अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था। फिर सब कुछ ऐसा थिर हुआ कि कुछ समय पहले की किसी भी बात का मुझे स्मरण नहीं रहा। जैसे कि जप के लिए मैं अभी-अभी बैठा था - एकदम ताजा।

मैं अपूर्व आनन्द से भरा हुआ जप कर रहा था। मन की एक पर्त पर कहीं समय की गणना हो रही थी। शायद दो घंटे बीत चुके थे। मुझे ठीक-ठीक स्मरण है कि उस समय मेरे मन से जप का भाव भी समाप्त हो गया था और मैं ध्वनि में डूब गया था।

लेकिन उसी दौरान सहसा मेरे सारे प्राणों को एक बड़ा गंभीर धक्का उस समय लगा जब मैंने जीते-जागते एक सिंह को सामने की झुरमुट के पास खड़ा देखा। भयानक सिंह ! सिंह तो वैसे ही भयानक होता है लेकिन वह भयानक सिंह!! चमकते भूरे अयालों से घिरा हुआ उसका विशाल सिर तथा उसका लंबा शरीर ! वह अपने अत्यन्त कसरती पैरों पर खड़ा होकर निर्भयता की मूर्ति सा लग रहा था। यद्यपि मेरी आँखें बन्द थीं; लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरी आँखें जैसे ही उससे मिलीं एक तेज गुर्राहट के साथ वह इतनी जोर से दहाड़ा कि समूचा जंगल उसकी दहाड़ से गूँजने लगा और ऐसा लगा कि पूरे जंगल में भयंकर हलचल मची है और उस सन्नाटे में जंगली जानवरों की सरपट भाग-दौड़ शुरू हो गयी है। फिर एक और दहाड़ मारकर मेरे ऊपर उसने वहीं से बड़ी फूर्ती से छलांग लगायी।

क्षणभर के लिए मेरे प्राणों में अपने समाप्त होने की एक भयहीन लहर उठी। मुझे ऐसा लगा जैसे कि मैं तो पहले ही समाप्त हो चुका हूँ और यह शरीर तो इस सिंह का आहार ही है। यह एक साधारण बात है। सच बात यह है कि यह शरीर भी ओझल होने वाला है। यह खो जायेगा और मैं बैठे-बैठे इस घटना को भी देख लूँगा कि यह खो रहा है, खोता जा रहा है।

लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। वह सिंह दहाड़ता हुआ कहीं और निकल गया था। वह पलटकर फिर मेरी ओर दौड़ने लगा। क्या दौड़ थी। मैं तो जैसे हर ओर देख रहा था। अपनी दहाड़ से सारे वन को गुँजाता हुआ वह सिंह जब अपनी विक्रम चाल से मेरी ओर झपटता हुआ दौड़ने लगा, तब मुझे अकस्मात् ऐसा लगा कि मेरे सिर पर शीतल, मधुर तथा चमकदार द्रव की एक अजस्र धारा बहने लगी है और वह विचित्र धारा मुझे डुबोती जा रही है,

डुबोती जा रही है। मैं अब नहीं रहा। मेरा शरीर अब नहीं रहा।

अब मैं केवल हूँ। 'हूँ' के अलावा अब कुछ नहीं है। बस आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

पण्डित जी! कबीर साहब ने इसी अनुभव को तो शायद इस प्रकार नहीं कहा है '*रस गगन गुफा में अजर झरे।* ' पता नहीं। खैर, उस समय तो मैं मस्ती में झूम सा रहा था और मेरी मन्त्र-ध्वनि एक विलक्षण ध्वनि में बदल गई थी। एक संगीत, एक अद्‌भुत संगीत।

उस समय उस संगीत में डूबा हुआ मैं एक अस्तित्व भर रह गया था। पण्डित जी! छिन्नमस्ता की साधना जान-जोखिम का काम तो जरूर है, लेकिन क्या आनन्द है! क्या स्वाद है!! क्या संगीत है!!!

तभी अस्तित्व मात्र से बचे हुए मैंने अपने सामने एक झीना सा लाल आवरण देखा। ऐसा लग रहा था कि उस झीने आवरण के पीछे कोई आसन्न यौवना खड़ी है, जो वस्त्रहीन है लेकिन पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो रही है। मैं कुछ सोचूँ, समझूँ वैसे कुछ सोचने-समझने लायक रह ही कहाँ गया था-मैं शायद द्रष्टा सा बचा था तो मैं कुछ सोचूँ-समझूँ कि उस झीने आवरण में से एक छोटा सा हाथ बाहर निकला। उसकी हथेली लाल-लाल दहक रही थी। लंबी-लंबी सटी हुई माणिक सी अँगुलियों में अनेक रंग की अँगूठियों की चमक दौड़ रही थी और कलाई के कंगन में सम्पूर्ण मणियों का ऐसा संगम था कि उसके इर्द-गिर्द अनेक इन्द्रधनुष बन-बिगड़

रहे थे। ठीक उसी समय मुझे एक बहुत मीठा बाला-स्वर सुनाई पड़ा -

"लाओ कुछ दो।"

पण्डित जी ! वैसा मीठा स्वर मैंने कभी नहीं सुना था। अभी तक कहीं सुनने को भी नहीं मिला। पण्डित रविशंकर के 'बसंतराग' में कुछ-कुछ वह मादकता तो है; लेकिन वह मिठास तो उसमें भी नहीं है।

वह स्वर सुनते ही मेरा हाथ यन्त्रवत् अच्छत भरे कटोरे की ओर लपका और उस अभिमंत्रित अच्छत के कुछ दाने मैंने उस हथेली पर डाल दिये। हथेली तत्काल गायब हो गयी। सब कुछ गायब हो गया। सामने का लाल झीना आवरण न जाने कहाँ लुप्त हो गया।

अस्तित्व मात्र से बचा हुआ मैं शायद उस समय आनन्दमय हो गया था। एक अस्तित्व और उसके चारों ओर बरसता हुआ आनन्द ! पण्डित जी अध्यात्म साधारण चीज नहीं है। लोग इसकी ओर यों ही आकर्षित नहीं होते हैं इसमें बड़ा मजा है।

पण्डित जी ! अपनी आनन्दमय अवस्था में मैं अपनी उस मन्त्र-ध्वनि को सुनने में निमग्न था, जो एक विलक्षण संगीत में बदल गई थी कि तभी वह झीना आवरण फिर प्रकट हुआ, हथेली फिर बाहर निकली और फिर वही किसी मादक संगीत से भी ऊपर का स्वर - "लाओ कुछ दो।"

उस झीने आवरण के प्राकट्य तथा विलुप्त होने की घटना बार-बार होने लगी। वह विचित्र संगीतमय आग्रह बार-बार होने लगा। पण्डित जी ! उस विलक्षण आग्रह-संगीत में जैसे मैं खो गया और शायद अधिक-अधिक मात्रा में अच्छत उठाकर देने लगा।

समय समाप्त हो रहा था। रात बीतने वाली थी और मैं माँ छिन्नमस्ता के आग्रह-संगीत में डूबने लगा था। वह हथेली फिर प्रकट हुई और फिर वही विचित्र संगीत- "लाओ कुछ दो।"

कटोरा खाली हो गया था। मेरा हाथ टटोलने लगा। कहीं कुछ नहीं। मेरे सामने खाली हथेली है। अच्छत नि:शेष। परम उद्वेग में मैं बोल पड़ा -

"अब तो कुछ नहीं-----।"

पण्डित जी! मेरा वाक्य अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि चारों ओर एक विलक्षण खनकती हुई हँसी सुनाई पड़ने लगी, जो क्षणभर में एक विकट अट्टहास में बदल गयी और उस शक्ति के दौड़ते हुए पग-चाप की ध्वनि से उस जंगल का सन्नाटा टुकड़े-टुकड़े हो गया। भयंकर अट्टहास हा! हा!! हा!!! और चारों ओर दौड़ते हुए पैरों की विलक्षण ध्वनि से मेरे कान स्तब्ध हो गये। मैंने आँखें खोल दी और इसके पूर्व कि मेरा सिर धरती से लग जाता, मेरे गुरु ने दौड़कर मुझे सँभाल लिया, उन्हें पता चल गया था।

पण्डित जी! मेरा सिर जमीन से नहीं लगा, शायद इसीलिए मैं बच गया। लेकिन अपने को तो मैंने खो ही दिया। मैं सब कुछ भूल गया। मुझे अपना कुछ पता नहीं। मेरी सम्पूर्ण संज्ञा खो गयी। मैं एकदम चुप हो गया। गुमसुम, पहचान खो गयी। मैं एक बच्चे की तरह व्यवहार करने लगा।

उस क्षण के बाद की बातों का मुझे कोई स्मरण नहीं है। अपने गुरु के कहने के अनुसार अपने पूर्व बोध को प्राप्त करने में मुझे लगभग एक साल लग गया। छः महीने के बाद मैं लोगों को कुछ-कुछ पहचानने लगा था। उसके बाद वे मुझे यहाँ बाबा के पास ले आये। अभी भी वे कभी-कभी मुझे देखने के लिए आ जाते हैं। वैसे अब मैं एकदम दुरुस्त हूँ। एकदम राइट! बाबा ने मुझे

अपनी पूर्वावस्था में लाने के लिए कौन-कौन से उपचार किये हैं, इसे तो वे ही जानते होंगे; लेकिन इतना मैं अवश्य जानता हूँ कि मैं एक साल पहले वाला ही फणीश हूँ। चाक-चौबन्द, बल और स्फूर्ति से भरा हुआ शरीर जिसमें एक अत्यन्त सक्रिय मस्तिष्क निवास करता है। आजकल बराबर पढ़ता रहता हूँ।'' इतना कहकर फणीशमणि मुस्कराने लगा।

मैं तो उस घटना को सुनकर दंग रह गया। सामने बैठा नौजवान मरण के कई स्तरों से गुजरकर निर्द्वन्द्व भाव से मुस्करा रहा था।

''माँ की इच्छा तथा गुरु की अनुमति से उस पुरश्चरण में फिर कभी लगूँगा। मेरा साहस बरकरार है। लेकिन एक बात यह बताइए कि सुबह की बैठक में आप बाबा को देखकर एकदम चौंक गये थे और आपके मुँह से एकाएक निकल पड़ा था- अरे! ये तो ब्रजवल्लभदास जी मसानी हैं। बातचीत के दौरान बाबा संमोहानन्द भी 'मसानी बाबा' जैसा कुछ बोल रहे थे। बात क्या है ?''

''मैं अब तक इन्हें ब्रजवल्लभदास मसानी के रूप में ही जानता था और एक तरह से इनकी तलाश कर रहा था।''

**

मसानी बाबा

बाबा ब्रजवल्लभदास मसानी से मेरी पहली भेंट पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले इलाहाबाद में एक समाचार पत्र के दफ्तर में हुई थी। मेरे अभिभावक वहाँ काम करते थे। मैं उन्हीं से मिलने के लिए गया हुआ था ।

मसानी बाबा आज की ही तरह बड़े आकर्षक लग रहे थे। गौरवपूर्ण, लाल-लाल होंठ, चपल आँखें, बढ़िया धोती- कुर्ता, जाकिट और सिर पर टोपी। दफ्तर के बड़े हाल में दरी-चाँदनी के ऊपर वे लगभग पचीसों व्यक्तियों से घिरे हुए थे, जिनमें कुछ महिलाएँ भी शामिल थीं। मसानी बाबा बड़े धीर-गंभीर भाव से उनके प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे और पूरी जमात को जबरदस्ती नाश्ता करा रहे थे। बात-बात पर नाश्ता कराना उनका दैव-प्रदत्त गुण है और वहाँ तो वे कोई अपना समाचार छपवाने आये थे। मसानी बाबा नाम सुनते ही लोग-बाग जमा हो गये थे।

हालाँकि छापाखाने में और अगल-बगल शोर बरकरार था, लेकिन मसानी बाबा द्वारा निर्देशित वहाँ के लघु उत्सव पर उन सबका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। बाहर की दुकानों से मिठाई, नमकीन, चाय, पान, सिगरेट तथा ठंडे पेय वगैरह लाने में वहाँ के चपरासी भाग-दौड़ कर रहे थे। मसानी बाबा के मनोहर आग्रह पर हर एक को ये सारी चीजें रह-रहकर लेनी पड़ रही थीं और इस प्रकार उनके नाश्ते का स्वरूप अब एक डिनर का रूप लेता जा रहा था। बाबा की जेब से बात-बात पर पचास-पचास की कड़क नोटें निकल रही थीं और वे एक निर्लिप्त सन्तुष्टि के साथ हर एक का ख्याल रख रहे थे। मसानी बाबा के नाश्तोत्सव की बात वही समझ सकता है जो उसमें कभी शामिल हुआ हो। स्वयं तो वे किसी भी

चीज का एक टुकड़ा भी नहीं लेते और एकत्रित या समागत व्यक्तियों को भारी करते जाते हैं।

हाल में प्रवेश करके, एक ओर खड़े होकर मैं इस बलात् खान-पान यज्ञ को बड़े कौतूहल से देख रहा था कि उनकी मुझपर नजर पड़ी – "ऐ लड़के, तू वहाँ क्या खड़ा है ? यहाँ आ, यहाँ आ बैठ। आप लोग जरा इसे बैठने दीजिए। कहाँ से आया है ?"

उन दिनों मसानी बाबा बड़ी जल्दी-जल्दी बोलते थे और उनके बोलने का भावार्थ निकालना पड़ता था। बोलना ही नहीं, हर काम जल्दी-उठना जल्दी, बैठना जल्दी, रास्ते में ऐसे चलना जैसे गाड़ी छूट रही है। रह-रहकर नाश्ते का मनोहर आग्रह और निर्लिप्त भाव से रुपयों का बेतहाशा खर्च। कहाँ से आता है इतना रुपया मसानी बाबा के पास ?

लोग थोड़ा अगल-बगल हुए तो मसानी बाबा बोले –

"पद्मासन में बैठ। बोल कहाँ से आया है ?"

"बनारस से।"

"जानता है बनारस का मतलब क्या है ?"

"बनारस का मतलब ? बनारस का मतलब तो मैं नहीं जानता।"

"अपनी आँखें बन्द कर और बाबा विश्वनाथ की ओर अपना ध्यान लगा।

अभी मालूम होता है बनारस का मतलब।" वे बड़ी सख्ती से बोले और उसी सख्ती से उन्होंने मेरे आज्ञाचक्र पर अपनी तर्जनी से चोट की।

तत्काल मुझे कुछ भी पता न चला कि क्या हुआ। मेरा अपना बोध तत्काल समाप्त हो गया था और मैं कहीं जाकर सुन्न हो गया

था। उस समय शायद मैं बनारस को ही एक अन्य ढंग से देख रहा था। वैसे मुझे उस द्रष्टापन का बोध भी तब हुआ जब मैं उस अवस्था से लौटने लगा। उस समय मुझे चतुर्दिक् मीलों दूर से हल्की-हल्की आवाजें आती हुई जान पड़ीं। ऐसा मालूम पड़ा जैसे असंख्य व्यक्ति हल्ला बोलते हुए दौड़े चले आ रहे हैं और उनकी गूँज क्रमशः तेज होती जा रही है। क्षणभर के लिए तो मुझे ऐसा लगा था कि जैसे कहीं बलबा होने जा रहा है। आवाज तेज होती गयी, तेज होती गयी, मण्डलाकार ध्वनि निरन्तर समीप आती गयी और अन्त में इस वस्तु- स्थिति का ताजा ज्ञान हुआ कि मैं उस हाल में उन लोगों से घिरा हुआ बैठा हूँ जो बातचीत में मशगूल हैं और प्रश्नोत्तर चल रहा है। मैं वहाँ होते हुए भी कहीं अन्यत्र था। कुछ देर तक तो शायद मैं 'न' की अवस्था में था और मेरी वापसी तो कहीं-न-कहीं से हुई ही थी। मैं कहाँ से लौटा था ?

वापस होने की वह विलक्षण संवेदना आज भी ताजा है।

उनसे दूसरी क्षणिक भेंट लगभग एक वर्ष बाद गोदौलिया पर हुई थी। वे गिरजाघर चौराहे की ओर से बड़ी तेजी से चले आ रहे थे। वही धोती-कुर्ता, जाकिट और सिर पर टोपी। उस समय दाहिने हाथ से एक छोटा सा झोला भी लटक रहा था। एकदम अकेले। मैं झपटकर सामने हुआ और प्रणाम करने लगा।

"अच्छा ! तुम !! चलो नाश्ता कर लो।" मेरे ख्याल से यह सब कुछ वे आधे सेकेण्ड के भीतर ही बोले होंगे।

"बाबा इस समय क्षमा कर दें। विश्वविद्यालय जा रहा हूँ।"

"ठीक है। यह लो।" यह कहने के साथ ही उन्होंने अपने

झोले से मिठाई का एक पैकेट निकाल कर मेरे हाथ पर रख दिया।

"नीलकण्ठ पर कानोड़िया की कोठी पर ठहरा हूँ। कभी आना।" इतना कुछ एक सेकेण्ड से कुछ कम में ही बोलकर वे द्रुतगति से आगे बढ़ गये।

उन दिनों मसानी बाबा का शब्दोच्चार शायद किसी इशारे के लिए होता था। वाक्योच्चारण किसी सामान्य अर्थ ग्रहण के लिए नहीं, किसी संकेत के लिए होता था। नीलकण्ठ पर मैं उनसे कई बार मिला और उनकी द्रुतभाषा पकड़ने की कोशिश करता रहा।

अब तो वे थम-थम के बोलते हैं, लेकिन शैली तो वही है-संकेत-शैली! कोई बात आपने पकड़ी तो पकड़ी नहीं तो हाथ से गयी।

उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना घटी जिसने मुझे मसानी बाबा का पक्का प्रशंसक बना दिया।

मेरे सात वर्षीय छोटे बेटे को ज्वर था। आजकल ज्वर तो एक मामूली सी बात है। टेम्परेचर तो चढ़ता-उतरता रहता है। लेकिन उस दिन उसके ज्वर का पन्द्रहवाँ दिन था। तापमान बराबर बना हुआ था। सौ से ऊपर ही चल रहा था, नीचे तो उतरता ही नहीं था। अपने डाक्टर की नियमित दवा चल रही थी, परहेज जारी था, लेकिन बुखार भी बरकरार था। कोई फर्क नहीं। आज तक

वह कभी बीमार नहीं पड़ा, लेकिन यह ज्वर....। उसका शरीर निरन्तर कृश होता जा रहा था, जिससे परिवार में विषाद का घेरा घना होता जा रहा था और घर के अन्य बच्चों की चपलता में उदासी घुलती जा रही थी।

मैं हाथ मल रहा था, लेकिन हाथ मलने से होता क्या है ?

जाड़े के दिन थे। यही कोई दस-बारह जनवरी रही होगी। उस दिन सुबह से ही बूँदा-बाँदी का क्रम जारी था और ऐसे दुर्दिन में पता चला कि बच्चे के शरीर का तापमान एक सौ दो से बढ़कर तीन हो गया है और पारे का अंशों में सरकाव अभी जारी है।

उस दिन विश्वविद्यालय में नौ बजे सुबह से ही कोई आवश्यक बैठक थी। जाना जरूरी था। बड़े बुझे मन से घर से निकला। वहाँ पहुँचने पर विविध कार्यक्रमों का कुछ ऐसा सिलसिला चला कि शाम हो गयी। जाड़े की शाम का तो कोई अर्थ ही नहीं होता है। शाम तुरन्त रात में बदलती है और वर्षा के माहौल में वह रात एक दुरंत काली रात में बदल जाती है। और मन अगर दुखी तथा बुझा हुआ हो तो वैसी रात में जलती हुई रोशनियाँ अस्तित्व पर व्यंग्य करती हुई सी लगती हैं।

उसी मानसिक स्थिति में विश्वविद्यालय गेट तक पहुँचते-पहुँचते एक कौंध हुई। मसानी बाबा! आज-कल तो आये हुए हैं। वर्तमान का उन्हें संदेश तो दे दूँ। बातों-बातों में वे कभी-कभी विलक्षण औषधियों तथा उपचारों की चर्चा करते हैं। फिर मेरे छोटे बेटे पर वे कुछ अलग से स्नेह रखते हैं।

रिक्शा पकड़ते-पकड़ते बारिश तेज हो गयी। बनारस की तेज बारिश ! यदि पिछले जन्म के संकल्पों का योग न हो तो वैसे माहौल में कौन माई का लाल बनारस की सड़कों पर चल गुजरने का साहस कर सकता है।

मसानी बाबा उस समय एकदम अकेले थे। इस बात पर मैं मन-ही-मन उस निराले मौसम को धन्यवाद दे ही रहा था कि मसानी बाबा का द्रुत स्वर सुनाई पड़ा। "अरे तुम ! ऐसी बरसात में। कुशल तो है ?"

"बाबा ! वैसे तो सब ठीक है, लेकिन छोटे बेटे का बुखार उतर नहीं रहा। पन्द्रह दिन हो गये।"

सुनते ही मसानी बाबा उस दिशा में देखने लगे जिस दिशा में मेरा घर पड़ता है। उसी स्थिति में कुछ देर शान्त रहने के बाद उन्होंने मुझसे मुस्कराते हुए पूछा - "घर से कब निकले हो ?"

"मीटिंग थी। नौ बजे सुबह से ही बाहर हूँ।"

"उसका बुखार उतर गया है गजानन ! चिंता की कोई बात नहीं है।" वे फिर मुस्कराये। उस समय तक वे मूझे गजानन कहने लगे थे।

मन में हल्का सा रोष हुआ, फिर तत्काल समाप्त हो गया।

'ठकुरसुहाती बोलने की बाबाओं की शायद आदत ही होती है। कहाँ तो चित्त में चैन नहीं है। ये मुस्कराये जा रहे हैं और छू मन्तर वाली स्टाइल में यह बोलकर कि बुखार उतर गया है, जले पर नमक छिड़क रहे हैं।'

उनकी बात पर विश्वास तो रत्ती भर नहीं हुआ। मैं प्रकट में बोला – "बाबा ! बुखार उतारने वाली किसी उपयुक्त औषधि का संकेत कर देते तो बड़ी कृपा हो जाती। उस पर तो आपका अलग से स्नेह है।"

मेरे इन दो वाक्यों को सुनकर उनकी हँसी फूट पड़ी। उस प्रकार उन्मुक्त होकर हँसते हुए मैंने उन्हें पहली बार देखा था।

थमकर बोले– "मेरी बात पर तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है !

गजानन ! बेटा, उसका बुखार उतर गया है। वह इतने दिनों के बाद बार–बार रोकने पर भी घर में चहल– कदमी कर रहा है। अब उसे फिर बुखार नहीं होगा और दो दिनों के बाद वह अपने पूरे रौ में चहकने लगेगा। समय बीतता जा रहा है और वह ठीक होता जाता रहा है ।"

फिर भी मन नहीं माना। मैं बोल पड़ा– "लेकिन कोई दवा बाबा !"

बाबा ने सहज स्वर में कहा– "तुम बहुत उपचार कर चुके गजानन ! अब किसी दवा की जरूरत नहीं है। वह भला चंगा है।" वही बेफिक्र द्रुत स्वर !

एकाएक वे मेरी आँखों में देखने लगे। उस समय उनका चेहरा प्रच्छन्न मुस्कान से लबालब भरा हुआ था और उनकी आँखों में गजब की दृढ़ शान्ति थी। वे बोल रहे थे–

"गजानन पण्डित ! दुनिया की विद्याओं में क्या रक्खा है। कुछ 'अनहोनी' विद्या पढ़ो। अ–न–हो–नी ! विद्वान् को धनवान् होना चाहिए।"

"हाँ! महर्षि याज्ञवल्क्य का नाम सुना है? संन्यास लेने लगे तो उन्हें चिन्ता हुई, कि इस अर्जित अपार संपत्ति का क्या करूँ। महर्षि अगस्त्य तो महाराजा ही थे। यहाँ बनारस में लक्ष्मीकुण्ड तथा लक्ष्मी-मन्दिर उन्हीं की देन है। और भगवान् परशुराम के पिता? ऋषियों की समूची कुल-परम्परा अत्यंत वैभवशाली रही है। वे लोग लँगोटी लगाकर दर-दर घूमने वाले भिखमंगे नहीं थे। 'भृगु संहिता' का नाम तो तुमने जरूर सुना होगा। उसकी रचना ही इसलिए हुई कि कोई दरिद्र न रहे।"

उनके द्रुतकथन को सुनते हुए सोच रहा था- 'आज मसानी बाबा का मूँड किधर सक्रिय हो गया है। निश्चित स्वर में बोल गये कि बच्चा हँस-खेल रहा है। दवा की कोई जरूरत नहीं और अब यह विद्वान् तथा धनवान् पर भाषण! भारत के बाबाओं का जवाब नहीं!'

मसानी बाबा ने शायद मेरा मनोभाव पढ़ लिया। मेरी ओर हँसती हुई आँखों से देखने लगे। उनके होंठ एकदम गुलाबी लाल हो रहे थे। बोले-"गजानन पण्डित, क्या सोच रहे हो? उस बच्चे के विषय में जो कुछ मैंने कहा है कि उसकी प्रतीति तो तुम्हें तब होगी जब तुम घर पहुँचोगे। पण्डित, मौज में रहा करो। जो कुछ परम आवश्यक है उसे करने के बाद भूल जाया करो। सोचने से कुछ नहीं होता। करने से होता है। और तुम वह सब कर चुके जो तुम्हें करना था-यथाशक्ति! अब भूल जाओ मौज! वही सच है। मौज में रहो, उद्वेग में नहीं। गजानन, इस बात पर ध्यान दो कोई पानी की अधिकता से डूब कर मरता है तो कोई पानी के बगैर मर जाता है-प्यासा! तालमेल बनाये रखो और मौज को हाथ से जाने न दो!"

फिर बातों के रुख को एकाएक दूसरी ओर मोड़ते हुए बोले-

"श्री विद्या पर किसी पुस्तक को देखने से तुम्हें पता चल जायेगा कि इंदिरा, उमा तथा भारती एक साथ ही इस शरीर में निवास करती हैं। उनका अलगाव हो नहीं सकता। वे युगपत् हैं। यह मध्यकाल की एक बहुत गलत धारणा है कि रमा-सरस्वती में परस्पर वैर है और इस गलत धारणा के बहुत गलत परिणाम निकले हैं। अच्छा, अपने हाथों से अपनी आँखें तथा अपने कान बंद करो, सुनो तो भीतर क्या हो रहा है?"

निर्देश पूर्वक उन्होंने मुझे उस स्थिति में बैठाया और मैं तत्काल न जाने कहाँ डूब गया।

घर पहुँचने पर मुझे पता चला कि बच्चे का बुखार एक बजते-बजते एकदम उतर गया था। वह बिल्कुल ठीक है। बैठक में बच्चों की बिरादरी जोरदार ढंग से जमी हुई थी।

कई मुलाकातों के बाद एक दिन एकान्त पाकर मैंने बाबा ब्रजवल्लभदास मसानी से उनकी आय के साधन के प्रति जिज्ञासा की। उनके बेतहाशा खर्च पर किसी को भी आश्चर्य हो सकता था। मेरी जिज्ञासा का समाधान उन्होंने ऐसे सनसनी खेज तथा ऐब्स्ट्रैक्ट ढंग से किया था कि उसका भौतिक साक्ष्य ढूँढ़ पाना तो एकदम असंभव है। उन्होंने कहा था- "तुमने सट्टा बाजार, शेयर मार्केट, स्टाक एक्सचेंज, ऑक्शन आदि का नाम सुना होगा। चाँदी-सोने के मूल्य में कमी और उछाल की खबर तुम कभी-कभी

अखबारों में पढ़ते होंगे। इसी प्रकार अनेक जरूरी चीजों के भाव में व्यापक घट-बढ़ होती रहती है। जिसके कारण मुद्रा-विनिमय की दरें बराबर प्रभावित होती रहती हैं। यह सब कैसे होता है। यह सब हम लोग करते हैं : चार पूरब तथा चार पश्चिम के लोग। उतार-चढ़ाव का सारा करतब हम आठ लोगों के माध्यम से एक विशेष उद्देश्य को लेकर होता रहता है। हम लोग किन्हीं-किन्हीं रातों में बड़ा परिश्रम करते हैं, नकछेद पण्डित !"

गजानन नाम पर आपत्ति करने के बाद उन्होंने मुझे नकछेद पण्डित कहना शुरू कर दिया था।

"कौन से आठ लोग बाबा ? यह पूरब, पश्चिम क्या है ?"

"चार पूरब के - मैं, चीन का ली, अरब का अबू बकर तथा जापान का केन्जी। इटली का लूसियानो, फ्रांस का आंद्रे, रूस का पावलोव तथा ब्रिटेन-अमेरिका का रिचर्ड-ये चार पश्चिम के। रिचर्ड- ब्रिटेन तथा अमेरिका का बड़ा प्रभावशाली प्रतिनिधि है। अन्य प्रतिनिधि भी मात्र अपने देश का ही नहीं : बल्कि कई सम्मिलित देशों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।"

वैसी विलक्षण बात सुनकर मैं मसानी बाबा का मुँह ताकने लगा।

वे मेरा अभिप्राय समझकर बोले-

"हम लोग अपनी मीटिंग में सामान्य नमस्कार-बन्दगी, हलो आदि के बाद अपनी-अपनी भाषाओं में बोलते नहीं हैं। हम लोगों को मशीनी अनुवाद की भी कोई जरूरत नहीं है। हम अपनी भाषा-विशेष में सोचते भर हैं। हम लोग प्रतिदिन एक ऐसी प्रक्रिया का अभ्यास करते हैं जिसके द्वारा दूसरे व्यक्ति के आशय का निर्भ्रान्त ग्रहण होता है।

तुमने स्वप्न में कभी कोई दूसरी बोली सुनी है ? या उस समय बातचीत में तुमने कभी किसी दूसरी भाषा का इस्तेमाल किया है ? ऐसा शायद कभी घटा हो ! अपने स्वप्न में उस समय तुमने सही प्रतिक्रिया व्यक्त की होगी और जागने पर तुम्हें बड़ा आश्चर्य हुआ होगा। हो सकता है वैसे विलक्षण स्वप्न की तुमने किसी से चर्चा भी की हो। जैसे स्वप्न में संभव हो जाता है, वैसे ही यथार्थतः भी होता है। डिग्री की बात है, योग्यता की बात है। अवस्था या स्थिति-विशेष की बात है। तुमने स्वप्न संकेतों के आधार पर बड़े-बड़े आविष्कारों की बात सुनी होगी। दरअसल महत्तम ज्ञान तो निरन्तर बह रहा है। तुम्हारी ट्यूनिंग नहीं है। तुम पकड़ नहीं पाते। नकछेद पण्डित ! हम रोज मेहनत करते हैं। मैंने उस प्रक्रिया पर लगातार मेहनत की है। तुम्हें सुनकर बड़ा अटपटा लगेगा – मैं विश्व-महान् हूँ। मैं अपने सभी मेम्बरों पर भारी पड़ता हूँ और सब पर भारी पड़ता हूँ। अ-न-हो-नी विद्या !''

''लेकिन बाबा ! यह सट्टा वगैरह तो एक प्रकार का जुआ है और जुआ.......।''

''और जुआ खेलना तो एक पाप है, क्यों नकछेद पण्डित !'' उस समय मसानी बाबा का चेहरा एक विनोदपूर्ण हँसी से भर गया था। वे आगे बोले- ''अभी मैं एक भिन्न तल पर काम कर रहा हूँ। वह सम्पूर्ण धन का नियन्त्रक तल है। वहाँ धर्माधर्म की कोई धारणा नहीं है। हम लोग इस धारणा क्‍ स्वयं नियामक हैं। शक्ति ! सामर्थ्य !!

तुमने यूनिवर्सिटी की ऊँची डिग्री हासिल की है। तुमने जीवन भर जी तोड़कर मेहनत की है। बहुत खटे हो और अभी भी दूसरों के साथ भरपूर परिश्रम करते हो, लेकिन तुम्हें क्या मिलता है ? मैं रुपयों की बात कर रहा हूँ। तुम कहोगे- अपने ग्रेड के हिसाब से मुझे पूरा धन मिलता है। मैं पूछ रहा हूँ : कौन तय करता है यह ग्रेड ? कौन लगाता है तुम्हारी कीमत ? साठ वर्ष तक की उम्र के

लिए तुम्हें कौन नीलाम करता है ? तुम्हारी इस सिमटी हुई जिन्दगी का खरीददार कौन है ? नकछेद पण्डित ! हर ओर सट्टा है ! हर ओर नीलामी है ! हम लोग तारों की मद्धिम रोशनी में अपना सफर तय करने के अभ्यस्त हो चुके हैं, इसीलिए कहीं-कहीं रास्ते की तेज रोशनी हमें चकाचौंध कर जाती है। हम अपनी आँखों पर हाथ रख लेते हैं। लेकिन दुनिया भर की सरकारें चकाचौंध करने वाली रोशनियाँ हैं। यहाँ कानूनों के बड़े-बड़े बनावटी दायरे और वादे हैं, जिनमें हम जिंदगी भर सुरक्षित रहकर चलने की कोशिश करते हैं। लेकिन वे दायरे एक दूसरे को हमेशा काट रहे हैं और जिंदगी का सफर एक मुश्किल सी चीज हो गयी है। तुम बड़े भोले हो नकछेद पण्डित ! हम लोग शब्दों के पीछे छिपे हुए आशय को पकड़ते हैं। हमलोग शब्दों के पीछे छिये हुए उस दोगले अर्थ को जान लेते हैं और हम लोगों से कुछ छिपता नहीं है। नकछेद पण्डित ! तुम मुझसे झूठ बोल सकते हो; लेकिन तुम्हारी आत्मा मुझसे झूठ नहीं बोल सकती।"

"फिर भी बाबा ! रहना तो एक सिस्टम के भीतर ही है। वैसे तो अराजकता हो जायेगी।"

"बात को समझो। अराजक मत बनो। लेकिन आज पूरे देश में फैली तथा छिपी हुई उस अत्यन्त जटिल अराजकता को जरूर समझो जिसे फरेब, मक्कारी, बातों का दोगलापन तथा अपराध कहते हैं। जिससे उबरने का कोई उपाय नहीं दिख रहा है और आज हर आदमी उसका शिकार है। नकछेद पण्डित। आज अपना देश अत्यन्त धीमी गति से सक्रिय एक प्रच्छन्न ज्वालामुखी पर बैठा हुआ है। कौड़ी के तीन दूसरों के अधिकारों पर लात मार कर अपने भवन उठा रहे हैं और वे शब्दहीन अवश भाव से खड़े होने की कोई जुगत कर रहे हैं। तुम अराजक मत बनों; लेकिन इस अराजकता को जरूर समझो। समझे बिना इस अराजक स्थिति का खात्मा नहीं होगा।

एक वैज्ञानिक ने कोई आविष्कार किया। उसे बहुत मिला तो नोबेल पुरस्कार मिल गया। चारों ओर यश फैल गया। लेकिन उस आविष्कार के धन्धे से दुनिया भर के उद्योगपति अरबों तक पहुँच गये। तुमने कोई पुस्तक लिखी। खूब चली। प्रकाशक तो निहाल हो गया। और तुम ? मेरी बात समझो, मेरा इशारा समझो नकछेद पण्डित ! मैं तुम्हें अराजक नहीं बना रहा। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि सच-झूठ, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, विधि-निषेध के इस बनावटी दायरे को अपनी खुली आँखों से देखो और बनावटी शब्दों के पीछे छिपे हुए अन्धकार को भाँपने की क्षमता का विकास करो। अराजक होने की चर्चा मैं नहीं कर रहा। तुम जहाँ कहीं भी हो-पूर्ण मनोयोग से, अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने कार्य-विशेष को एक महत्त्वपूर्ण रूप देने की कोशिश करो-कोई कोना-अँतरा मत छोड़ो। फिर निश्चिन्त होकर सब कुछ भूल जाओ। नकछेद पण्डित ! बनावटी दायरे का कड़ुआ स्वाद मैंने भी लिया है; लेकिन एक बात-मौज में रहना सीखो, एकदम हल्के हो जाओ, निर्भार !

मालिक पर छोड़ दो। जैसी मालिक की मर्जी !'' ऐसा कहते-कहते मसानी बाबा एकदम शान्त होकर थोड़ी देर के लिए कहीं डूब गये।

फणीश ! कभी-कभी मसानी बाबा की बातों को समझना बड़ा मुश्किल होता था। वे एक साथ कई-कई बातों को मिश्रित कर देते थे। लेकिन इतने दिनों बाद अब कुछ-कुछ समझ में आने लगा है कि वे एक धक्का देते थे कि सोये हुए मत रहो, जागो, आँखें खोलो।

कुछ देर बाद जब वे मुझे शान्त भाव से देखने लगे तब बातों के उस सिलसिले को अपने हाथों में लेते हुए मैंने कहा-

"यही तो नहीं हो पाता बाबा! दुष्चक्र तो चलता ही रहता है। जो भी मिलता है, थोड़ा भारी कर जाता है। हल्का होने का उपाय कहाँ है?"

"वही हल्का हो सकता है और रह सकता है जो धीरे-धीरे यह मानने लगे कि मालिक एक है, दस मालिक नही है। और यह सारा निजाम केवल एक मालिक द्वारा नियन्त्रित है। सारे आस्तिक इस बात को केवल एक सिद्धान्त के रूप में मानते हैं, लेकिन इस गहराई में नहीं जाते। रामायण, गीता का पाठ तथा तीर्थाटन भर कर लेने से कोई आस्तिक नहीं हो जाता है। ईश्वर पर विश्वास करने से कोई ईश्वर विश्वासी हो सकता है; लेकिन आस्तिक होना एक अलग बात है। आस्तिक वही हो सकता है, जो अपनी बुद्धि का महत्तम उपयोग करता है, अपनी सम्पूर्ण शक्ति को समाहित करके लक्ष्य-बेध में प्रवृत्त होता है और फिर यह सोचता हुआ निर्भार होने की कोशिश करता है कि मालिक की जैसी मर्जी!

पण्डित! मालिक ही ताना है, मालिक ही बाना है। कोई उठता है, कोई गिरता है-सब कुछ उसका खेल है। जब सब कुछ वही है तो उसके संकल्प के बिना एक पत्ता भी कैसे हिल सकता है? सारे भाव, विचार तथा विस्तार का नियन्ता केवल एक है-अकेला, एकल, अद्वितीय! इस सम्बन्ध में नानक साहब के ये वचन मुझे बहुत पसन्द हैं! वे कहते हैं, सुनो पण्डित!

जे जुग चारों आरिजा होर दसूणीं होय।
नवाखंडा बिच जाणिए नाल चले सभकोय।।
चंगा नाम रखाई के जस कीरत जस लेय।
जे तिस नदर न आवई ता बात न पुच्छे केय।।

अपनी स्थापना के पूर्व नानक साहब सारी असंभव कल्पनाएँ कर रहे हैं- अतिशयोक्तियाँ ! वे कह रहे हैं कि मान लो किसी को चारों युगों के परिमाण के बराबर उम्र मिल गयी। एक चतुर्युगी में लाखों वर्ष होते हैं। एक चतुर्युगी ही नहीं, उसे चतुर्युगी की दस गुनी उम्र मिल जाय अर्थात् करोड़ों वर्ष की उम्र ! कोई मरना कहाँ चाहता है ! तो यदि वह आदमी खूब खुश फैल होकर जिए करोड़ों वर्ष ! उसे करोड़ों वर्ष की उम्र ही नहीं मिल रही। बड़ा यशस्वी है वह यशस्विता ! आदमी की तमाम भूखों में यह एक अमिट भूख है। यश ! वह बड़ा यशस्वी है। उसे समूची धरती जानती है- वह महानों का महान् है। अशोक महान् तथा सिकन्दर महान्, उसके आगे कुछ नहीं है। नवाखंडा बिच जाणिए : सारी पृथ्वी उसे जानती है। और सभी उसके अनुगामी हैं। सारी दुनियाँ उसकी फालोअर है। लोग मेरा अनुगमन करें- यह भावना अहंकारों का अहंकार है। यूरोप में बिखरे हुए लोग कुत्तों, बिल्लियों को पाल लेते हैं। अनुगमन उस व्यक्ति का अनुगमन समूची धरती कर रही है। पशुओं की तो कोई बात ही नहीं है - बड़े-बड़े बुद्धिजीवी, अपने को कुछ समझने वाले बड़े-बड़े तार्किक, दार्शनिक सब उसका अनुगमन करने वाले हैं। उस व्यक्ति ने बड़ा अच्छा नाम कमाया है। उसकी चारों ओर प्रशंसा होती है। वैसा यशस्वी तथा कीर्तिमान व्यक्ति आज तक हुआ नहीं। ऐसा होना एक अनहोनी है; लेकिन नानक साहब कहते है कि मान लो ऐसी असंभव घटना भी घट गयी है। वह सिकंदरों का सिकंदर-वह मिनी ब्रह्मा धरती पर विचर रहा है।

लेकिन जिस क्षण ऐसे महानतम व्यक्ति के ऊपर से उस मालिक की निगाह हट जाती है, वह उस पर से अपनी नजर घुमा लेता है, उसे देखना बन्द कर देता है- वह महान् यशस्वी, दस चतुर्युगियों की आयु वाला, परम प्रशंसनीय व्यक्ति कौड़ी का तीन हो जाता है। फिर कोई उसकी बात नहीं पूछता। उसे एक छूत का

रोग समझकर उसके सारे अनुगमनकर्ता अलग-अलग दिशाओं में भाग खड़े होते हैं-*ता बात न पूच्छे कोय !* वह श्रीहत हो गया। उस पर से मालिक की आँखें फिरते ही समूची धरती की आँखें फिर गयीं। क्योंकि मालिक देखता है तो सब देखते हैं। मालिक नहीं देखता तो कोई नहीं देखता !

नकछेद पण्डित ! किसी भी कार्य में अपनी समूची शक्ति लगाने के बाद सब कुछ उस मालिक पर छोड़ दो। हल्के हो जाओ-भार रहित ! जैसी मालिक की मर्जी, फिर जैसा वह चाहे ! इसी भावना से परम पुरुषत्व तथा परम तर्क का जन्म होता है।

एक दिन मैंने बाबा ब्रजवल्लभदास मसानी से पूछा-

"आपको लोग मसानी बाबा क्यों कहते है ?"

"क्योंकि मसान में रहता हूँ और मुर्दे का माँस खाता हूँ।"

"लेकिन आपको तो मैंने मसान में रहते या मुर्दे का माँस खाते हुए कभी नहीं देखा !" बाबा हँसकर बोले-

"तुम तो जानते ही हो कि यह मर्त्यलोक है। मर्त्यलोक का क्या मतलब है ? आटा, दाल, चावल, सब्जी-यह सब क्या है ? इनके पौधे सूख गये, समाप्त हो गये, तुमने सब्जी काट ली। मुर्दा किसे कहते हैं ! तुम बड़े भोले हो नकछेद पण्डित ! सभी मसानी हैं- लेकिन इसका ख्याल किसी-किसी को होता है।"

मसानी बाबा का तर्क !

फणीश, उनकी आजकल की दिनचर्या तो मैं नहीं जानता; लेकिन बहुत पहले, जिन दिनों मैं पटना में रहता था, एक बार मेरे आवासपर वे तीन दिनों तक ठहरे हुए थे।

शाम पाँच बजे के लगभग अल्पाहार लेकर आराम करने या लेटने के लिए बिस्तर पर चले जाते। बहुत आवश्यक होता तो सात बजे से पहले किसी से वहीं पर मिलते। फिर ग्यारह बजे रात में उठते। हम लोग आवश्यक पूजन सामग्री देकर सोने चले जाते और उसी समय से उनका दिन शुरू हो जाता। सुबह पाँच बजे आवाज देते- "नकछेद पण्डित! दुलहिन से कहो कि किसी चीज की पकौड़ी बनायें।

बड़ी भूख लगी है।"

वैसे पकौड़ी और भूख तो एक बहाना होता था। उनका मुख्य उद्‌देश्य तो हमें उठाने का होता; क्यों कि उसके बाद वे घूमने चले जाते । सात बजे तक लौटने पर एक कप दूध लेते, लोगों से मिलते, चर्चाएँ करते, फिर दस बजे के आस-पास साधारण सूक्ष्म आहार लेने के बाद एकान्त में हो जाते। संभवतः चिन्तन-मनन करते और तीन बजे से पहले किसी से नहीं मिलते थे। वैसी विलक्षण दिनचर्या तथा वैसा प्रमित आहार मैंने और किसी का नहीं देखा।

मैंने एक दिन कहा- "आप बड़ी जल्दी उठते हैं, बाबा!"

"हाँ! जल्दी सोता भी तो हूँ। तुम्हारी ड्यूटी दिन की, मेरी ड्यूटी रात की। मैं भी नौकर हूँ। नकछेद पण्डित!"

विचित्र कार्यक्रम।

"उनकी दिनचर्या यथावत् है।" फणीश ने कहा।

**

बाबा संमोहानन्द के पास मैं ठीक तीन बजे पहुँच गया।

मैंने पहुँचते ही प्रश्न किया- "अलग होते समय आपने माध्यम की चर्चा की थी। आपने कहा था कि सूबा सिंह से माध्यम का काम लिया गया था। वह बात समझ में नहीं आयी। यह माध्यम क्या है ?

"हाँ, कभी-कभी किसी माध्यम की जरूरत पड़ती है। उचित अवसर पर उचित व्यक्ति से माध्यम का काम लिया जाता है। मान लो समाचार प्रसारण का समय आठ बजे है। हम आठ बजे अपना रेडियो सेट खोलते हैं, और समाचार सुन लेते हैं। यदि संप्रसारण केन्द्र से चार बजे समाचार प्रसारित कर दिया जाय तो उसे कौन सुनेगा ? समाचार सुनने के लिए रेडियो सेट खोलने का वह कोई समय नहीं है। वैसी स्थिति में संप्रसारण का वह कार्य व्यर्थ हुआ, संप्रेषण की वह क्रिया व्यर्थ गयी। कोई सुनने वाला, कोई ग्रहण करने वाला मौजूद नहीं है। उस आवाज का कोई ग्राहक नहीं, संक्रिया बेकार हो गयी। उचित अवसर पर यही अर्थ है। उचित अवसर पर की गयी संक्रिया का ग्रहण होता है और आतुर भाव से ग्रहण होता है।

कभी-कभी बातचीत के दौरान तुमने किसी सामान्य व्यक्ति के मुख से किसी असाधारण परिवर्तन, किसी असाधारण बदलाव की बात सुनी होगी। लेकिन तुमने उस बात को सुना-अनसुना कर दिया होगा। कहावत है-*छोटा मुँह बड़ी बात।* विश्वास नहीं होता। लेकिन वही बात जब किसी सूबा सिंह सरीखे व्यक्ति के मुँह से निकलती है, हम तुरन्त तत्काल मान लेते हैं। उचित व्यक्ति

का तात्पर्य यही है। ऐसे व्यक्ति के निर्देश पर हम तर्क नहीं करते; उसके अनुपालन में लग जाते हैं और सही जगह पहुँचते हैं।''

''अच्छा ! इसका अर्थ यह है कि कुछ वर्ष पहले मुझसे भी माध्यम का काम लिया गया था !''

''तुम्हारे साथ क्या हुआ था नकछेद पण्डित !''बाबा ने पूछा।

''बाबा ! बनारस में मेरे एक मित्र हैं। वे मुझ पर अकारण अपार स्नेह रखते हैं और कभी-कभी वह स्नेह श्रद्धा की सीमा तक पहुँच जाता है। वे अविवाहित रहे हैं।

सारनाथ में उनका एक छोटा सा सुन्दर सा घर है। उन्होंने श्री रजनीश से शिष्यता ग्रहण की थी और उन दिनों वे संन्यासी के वस्त्र तथा विहित माला धारण करते थे। मुझसे कुछ छिपाते नहीं हैं। अपने भले-बुरे की सारी चर्चा करते हैं। उनकी अंग्रेजी बहुत अच्छी है।

उसी समय की बात है।

कई महीनों तक अदृश्य रहने के बाद एक दिन वे मेरे घर पर पहुँचे तो बड़े उत्फुल्ल लग रहे थे। बैठते ही बोले -'आजकल एक अमेरिकन से दोस्ती हो गयी है। बहुत पहुँचा हुआ आदमी है। वह वर्षों तक तिब्बती लामाओं के सम्पर्क में रहा है और मेरे गुरुदेव के साथ अपना अप्रत्यक्ष सम्पर्क बतलाता है। पिछले दिनों अपने होटल के कमरे में उसने मुझपर यह जानने के लिए संमोहन किया था कि मेरे शरीर चक्रों की स्थिति क्या है ?'

मैंने चौंककर पूछा-''संमोहन ? तो आपके शरीर चक्रों के सम्बन्ध में उसने क्या कहा था ?''

"उसने कहा था कि एक चक्र कुछ डिफेक्टिव है, लेकिन वह उसे समय-समय पर ठीक करने की कोशिश करेगा। मैंने उसे अपने घर की कुंजी दे रखी है। मेरी अनुपस्थिति में भी वहाँ रह लेता है। बड़ी डाइनैमिक पर्स नैलिटि है। आजकल भारत- भ्रमण कर रहा है। अमेरिका लौटने पर यात्रा का पूरा ब्यौरा भेजेगा। उसकी गर्ल फ्रेन्ड यहाँ एक होटल में रहती थी और किसी से सितार सीखती थी।"

उस समय उन्हें खुश पाकर मैं भी बहुत खुश हुआ और उनकी बातों का आनन्द लेने लगा।

उनसे मुलाकात के कई महीने बाद एक रात मैंने एक अपूर्व स्वप्न देखा।

मैने देखा कि मैं एक बड़े गोलाकार हाल में एक कुर्सी पर बैठा हुआ हूँ-ठीक उसके केन्द्र पर। हाल के भीतर हल्की पीली रोशनी फैली हुई है। मुझे एक निर्देशात्मक स्वर सुनाई पड़ता है :

"अपने उस सारनाथ वाले मित्र से कह दो कि वह उस अमेरिकन से सावधान रहे। वह अमेरिकन एक एजेन्ट है। तुम्हारे मित्र से वह तमाम सूचनाएँ एकत्र कर चुका है-सामान्य रूप से भी तथा हिप्नोटाइज करके भी। महीनों तक तुम्हारे मित्र का घर उसका अड्डा रहा है।"

उस अधिकारपूर्ण स्वर की अवहेलना करते हुए मैंने पूछा-

"उस अमेरिकन ने मेरे मित्र को ही क्यों चुना है ?"

"इसलिए कि वह एकाकी है, एकान्त में रहता है और श्री रजनीश का शिष्य है। रजनीशपुरम् छः महीने के भीतर समाप्त होने वाला है। ईसाइयत श्री रजनीश को बरदाश्त नहीं कर पा रही। वे वहाँ से उखाड़ फेंके जायेंगे। कुछ भी नहीं बचेगा। उससे कहो कि वह उस अमेरिकन से सावधान रहे।"

वह स्वर मुझे बड़ा अटपटा लग रहा था। कितनी विचित्र सूचना थी- रजनीशपुरम् छः महीने के भीतर समाप्त होने वाला है- यह आदमी क्या बोल रहा है ? कहाँ से बोल रहा है ? दिखाई तो पड़ नहीं रहा ! जैसे कहीं ऊपर से मुझे डिक्टेट कर रहा है !

मैंने दृढ़ता से पूछा- "यह बात आप मुझसे क्यों कह रहे हैं ? मेरे मित्र से ही क्यों नहीं कहते ? वह श्री रजनीश का शिष्य है !"

"उसका कारण है। तुम उससे अवश्य कहना।"

फिर आती हुई आवाज बन्द हो गयी। पीली रोशनी बुझ गयी। मेरी आँख खुल गयी।

स्वप्न का मजमून बड़ा विलक्षण था। भविष्य का अद्भुत संकेत! पहले तो मैंने यही सोचा कि स्वप्नों का क्या है ? वे तो आते रहते हैं। लेकिन वह स्वप्न मुझे कुछ भिन्न लग रहा था। पहले तो वह स्वप्न एक ऐसे व्यक्ति से सम्बन्धित था जिससे मैं कभी मिला ही नहीं था। दूसरे वह ओरेगॉन में होने वाली घटना की भविष्यवाणी कर रहा था।

मैं असमंजस में पड़ गया। मैं स्वयं से पूछ रहा था कि मुझे अपने मित्र की उस अन्य व्यक्ति से मित्रता के कारण कहीं ईर्ष्या तो

नहीं है ? कहीं यह ईर्ष्या-जनित स्वप्न तो नहीं है ! मैंने स्वयं को बड़ा टटोला। अपने भीतर तो मुझे कहीं कुछ नहीं मिला लेकिन अवचेतन का क्या ठिकाना ! हो सकता है कोई बात पड़ी ही हो !

लेकिन नहीं ! वह अधिकारपूर्ण स्वर ! वह डिक्टेशन !

रजनीशपुरम् का जो हश्र होने वाला है वह तो सामने आयेगा ही। लेकिन इतनी दिलतोड़ तथा भयंकर बात मैं अपने मित्र से कहूँ तो कैसे कहूँ ? यह उसके अंतरगं मित्र की बात है। उसके अत्यन्त श्रद्धास्पद, इतने प्रंख्यात गुरु की बात है। नहीं-नहीं, मैं उससे उसके महान् गुरु के साम्राज्य-ध्वंस की बात नहीं कर सकता। इसे सुनकर उसे कैसा लगेगा ? यह भी कोई कहने की बात है ? उस अमेरिकन की बाबत भी मैं कुछ नहीं बोलूँगा। आखिर वह उसका घनिष्ठ मित्र हो चुका हैं। उसके कारण उसके एकांकी जीवन में आनन्द बरस रहा है। नहीं-नहीं !

फिर भी मैंने एक निर्णय लिया। मेरे सारनाथ वाले मित्र मुझसे जल्दी नहीं मिलते हैं। एकाकी जरूर हैं ; लेकिन अपने सम्बन्धियों को लेकर बंड़े व्यस्त रहते हैं। उनसे मुलाकात की अवधि कभी दो महीने लम्बी होती है तो कभी तीन महीने-कभी-कभी तो कमाल होता है जब वह अवधि छः महीने तक पहुँचती है। तो मैंने निर्णय लिया कि यदि एक हफ्ते के भीतर हम लोगों की मुलाकात होती है तब तो यह चर्चा का विषय बनेगा, अन्यथा कैसा डिक्टेशन और कैसी भविष्यवाणी ! जो होगा वह तो सबके सामने आयेगा।

बाबा, असंभव बातें भी कभी-कभी घट जाती हैं। एक हफ्ते के भीतर ही वे मेरे पास अचानक आ पहुँचे। बातचीत के दौरान मैंने डरते-डरते उनसे उनके मित्र के विषय में जिज्ञासा की। वे तत्काल बोले -

"उसका तो कहीं पता नहीं। मेरे किसी भी पत्र का उसने उत्तर नहीं दिया। एक-दो पत्र नहीं-पाँच-छः पत्र। वह तो बड़ा अजीब निकला।"

मेरा डर कुछ कम हुआ। एकान्त में मैं उनसे धीरे-धीरे उस स्वप्न की बात करने लगा।

लेकिन बाबा! दूसरी घटना भी घटी। "छः महीने के भीतर रजनीशपुरम् ध्वस्त हो गया।"

"नकछेद पण्डित! तुमसे माध्यम का काम लिया गया था। वैसे तो यह सारा खेल उस मालिक का ही खेल है। देश-काल उसका ही माध्यम है-सभी उसके माध्यम हैं। लेकिन कभी-कभी जब हम आदिष्ट होते हैं तब सामान्य माध्यम से विशिष्ट हो जाते हैं। उस समय हम चुने जाते हैं। तब कोई बड़ी घटना घटती है।"

"लेकिन बाबा! इस बात का मुझे बहुत दुःख हुआ कि श्री रजनीश की दुर्दशा पर कोई कुछ न बोला। उसके विपरीत अनेक वर्ग तो यह कहते हुए बड़े प्रफुल्लित हुए-बड़ा अपने को भगवान् समझता था! मिट्टी में मिल गया। ही! ही!! ही!!!"

"नकछेद पण्डित! तुम्हारा दुःखी होना उचित है। लेकिन उस समय वे एक अमेरिकी थे। अमेरिका के अधिकार क्षेत्र में थे। फिर भी यह देश की तेजहीनता का लक्षण है। तेजोवध का यह ठंडा काल न जाने कब समाप्त होगा? एक हजार वर्ष तो हो गये। मालिक ही जाने!" ऐसा कहकर बाबा संमोहानन्द ने अपनी आँखें बंद कर लीं! वे स्थिर होकर कहीं डूब गये। मैंने उन्हें आँखें बन्द करते हुए पहली बार देखा था।

कुछ क्षण बाद वे मुझे अपनी निर्मल आँखों से देखने लगे। किसी दुःख का हल्का सा झोंका उन्हें जरूर स्पर्श कर गया था।

"हम हार गये थे नकछेद पण्डित ! व्यक्ति ही अधर्म नहीं करता, देश भी अधर्म करता है। व्यक्ति + व्यक्ति + व्यक्ति..... अर्थात् समूचा देश। बड़ी गहरी पराजय हुई थी। सोमनाथ के मन्दिर के शिवलिंग पर महमूद गजनबी के गदा की चोट बड़ी भयंकर थी। उस चोट ने हमें गूँगा बना दिया। हम हार गये। हारते गये। संभवतः कोई अभिशाप सक्रिय हो गया था। राजवंशों की हेकड़ी खत्म हो गयी। तराइन की दूसरी लड़ाई में चौबीस वर्षीय पृथ्वीराज की पराजय ने समूचे देश को एक दलदल में ढकेल दिया। हम हततेज हो गये। फिर हमारी कोई परम्परा नहीं रही। नकछेद पण्डित ! तुमने 'गलगर' शब्द सुना है ? फिर हम 'गलगर' हो गये। हर हारा हुआ आदमी गलगर हो जाता है। हम गलकर हो गये और अतीत का सारा ज्ञान धुँधला पड़ गया। फिर लुप्त हो गया।

शताब्दियों तक जो कुछ सँभालकर हम इधर-उधर भागते रहे वह दो सौ साल पहले अंग्रेजों की पैनी निगाह से नहीं बच पाया। जिस हिकमत, तरकीब तथा मक्कारी से अपने देश के राजाओं को मूर्ख बनाते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भारत पर कब्जा कर लिया, उसी काइयाँपन से वे भूमितल के बाद भारतीय बुद्धितल का परिवेष्टन करने लगे। पण्डित ! किसी दूसरे के द्वारा परिवेष्टित बुद्धि कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगती है। हम दुमदार हो गये थे। लगभग दो सौ साल का काल हमारा घोर अपमान का काल रहा है। महमूद गजनबी ने तो हमारी आस्था पर चोट की थी, जिससे हम बड़ी जल्दी उबर गये थे ; लेकिन अंग्रेज तो हमारे अस्तित्व को अन्त तक अपनी लातों से रौंदते रहे।

अधर्म ! हमने कहीं कोई गहरा अधर्म किया है। भारत का इतिहास अभी साफ नहीं हुआ है।

हम अभी उसी अवस्था में चल रहे हैं। कुछ खास अच्छा मत समझना। इस जलालत और मलामत से अपना देश कब मुक्त होगा, इसे तो ठीक-ठीक मालिक ही जानते हैं। वैसे अपने-अपने स्तर पर कोशिश तो सभी कर रहे हैं। हम भी कोशिश में लगे हैं, नकछेद पण्डित ! लेकिन देखो क्या होता है और कब होता है ?"

"बाबा ! कुछ समय पहले दिल्ली में जब नयी सरकार पदारूढ़ हुई तो यही कुछ जानने-सुनने के लिए मैं श्री श्यामाचरण लाहिड़ी के घर गया हुआ था।"

"लाहिड़ी महाशय ? वे तो अब शरीर में नहीं हैं।"

"उनके पौत्र श्री सत्याचरण लाहिड़ी के पास।"

"हाँ-हाँ, तो क्या बात हुई थी ?"

"मैंने उनसे पूछा था कि अपने देश के बारे में बड़ी अच्छी-अच्छी भविष्यवाणियाँ पढ़ने-सुनने को मिल रही हैं। ऐसा कुछ क्या सचमुच होने वाला है ? इस संदर्भ में अपनी नयी सरकार क्या कोई भूमिका निभा पायेगी ? देश के दिमाग पर छायी हुई धुंध आगामी कुछेक वर्षों में छँटने वाली है या हमारा बौनापन स्थायी हो गया है ?"

बाबा, उस समय बड़ी ठंड थी। वे अब चौरासी के आस-पास हैं। कुछ रुग्णभी हैं। उन्होंने मुझसे मिलकर अपनी अपार करुणा और कृपा का परिचय दिया था। मेरे प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने जो बातें बतायी थीं उन्हें सुनकर मैं दंग रह गया था। उन्होंने कहा था-

"देश का भविष्य ! अच्छा, अपने सामने घटी हुई एक घटना सुनाता हूँ। उससे शायद इस प्रश्न के उत्तर पर अच्छा प्रकाश पड़े। पिछले साल की बाते है।

आज ही की तरह जाड़े के दिन थे। कलकत्ता जाने वाली गाड़ी पकड़ने के लिए मुगलसराय स्टेशन पर कम्बल ओढ़कर एक बेंच पर चुपचाप बैठा हुआ था। रात का समय था। गाड़ी आने में अभी कुछ देर थी। चारों ओर सन्नाटा था। कुछ दूर अन्धेरे में एक आदमी प्लेटफार्म वाले नल पर पानी पी रहा था। तभी दो टी० टी० मेरे सामने से आपस में बातचीत करते हुए गुजरे। एक दूसरे से कह रहा था–

"यार ! अभी तक कुछ खास हाथ नहीं लगा। साला समय बीतता जा रहा है। जाड़े में रात की ड्यूटी......।"

तभी उसकी निगाह उस आदमी पर पड़ी जो पानी पीकर मुँह पोंछता हुआ लौट रहा था। कोई देहाती था बेचारा।

वह टी०टी० झपटकर उसके पास पहुँचा और उससे कड़क कर बोला–

"तुमने उस नल से पानी पिया ?"

"हाँ, सरकार बड़ी प्यास लगी थी।"

"जानते नहीं, उस नल से पानी पीना मना है। जुर्माना भरना पड़ेगा।"

"सरकार, उस पर तो सभी पानी पीते हैं। प्लेटफारम का बम्बा है।"

"कानून छाँटता है। चल तुझे रेल-पुलिस के पास ले चलते हैं। तुम लोग बड़ी जुबान चलाते हो।"

तब दूसरा टी० टी० उस हक्के-बक्के देहाती को एक ओर ले जाकर उसे समझाते हुए बोला-"क्यों तकझक करता है ? कुछ है ? बाबू को धीरे से दे दे, वरना गिरफ्तार करा देगा।"

"बाबू, दो स्टेशन आगे जाना है। टिकट खरीद चुका हूँ। पास में बस दो रुपया बचा है सरकार!" ऐसा कहकर वह उस टी०टी० का पैर पकड़ने लगा।

"ला, दो ही रुपया निकाल। मैं टिकट बाबू को देकर मनाता हूँ। चल हट।"

बाद में वे दोनों टी० टी० ठहाका लगाते हुए आगे बढ़ गये थे।

ये सुना आपने। यह घटना मेरी आँखों के सामने हुई थी। क्या बोलूँ मैं इस देश के भविष्य के बारे में ? यह एक नमूना है।

अपने-आप में सचमुच वह एक निराली घटना थी।

श्री सत्याचारण जी कह रहे थे -

"बचपन की बात है। उस समय मेरी उम्र चौदह वर्ष की थी। पिताजी रिटायर हो गये थे; लेकिन उस समय के ऊँचे तबके के लोगों के अनुरोध पर मुंशीघाट पर रानी रासमणि के ट्रस्ट का कामधाम देखते थे। शाम के समय अपना थोड़ा समय देते थे। फिर वहाँ से उठकर दशाश्वमेध घाट पर अपना कुछ समय एकान्त में बिताते थे।

एक दिन जब वे वहाँ जाने लगे तो एक पोस्ट कार्ड खरीदने का पैसा देकर बोले-

"पोस्ट आफिस से पोस्टकार्ड लेकर मेरे पास पाँच बजे तक आ जाना।"

मैं जब पोस्टकार्ड खरीदकर वहाँ पहुँचा तो वे वहाँ का हिसाब-किताब देखने में मशगूल थे। थोड़ी देर बाद जब वे वहाँ के काम से फारिग हुए तब मुझसे खरीदा हुआ पोस्टकार्ड माँग कर कोई चिट्ठी लिखने लगे। जब कि मैंने देखा कि वहाँ पोस्ट कार्डों की तमाम गड्डियाँ पड़ी हुई थीं। मेरे सामने ही उनमें से कई पोस्टकार्ड निकालकर उन्होंने चिट्ठियाँ भी लिखी थीं। चिट्ठी लिखने के बाद उसे मुझे देते हुए उन्होंने कहा- "पोस्ट करके घर पहुँचो। मैं थोड़ी देर में घाट से लौटता हूँ।" फिर चलते समय वहाँ की दानपेटी में उन्होंने एक पैसा डाला। उस समय एक पैसे की भी कीमत थी। पिताजी का उस दिन का व्यवहार मेरी समझ के बाहर पड़ रहा था। मैं कौतूहल से भरा हुआ था ; लेकिन अदब-कायदे का जमाना था। उस समय मैं कुछ न पूछ सका।

रात में भोजन करते समय मैं अपने को न रोक सका। मैंने साहस करते हुए कहा-"बाबा, आज का आपका एक-दो काम मेरी समझ में नहीं आया।"

"कौन सा काम बेटा ?"

"बाबा, आपके आफिस में पोस्टकार्डों की तमाम गड्डियाँ बँधी पड़ी थीं। आपने कुछ का इस्तेमाल भी किया था। फिर भी एक पोस्टकार्ड का पैसा देकर आपने मुझे आफिस बुलाया। चलते समय दान-पेटी में आपने एक पैसा डाला। वहाँ काम करने वाले

कई नौकरों के होते हुये भी चिट्ठी पोस्ट करने के लिए आपने मुझे दी। यह सारी बात तो मेरे बिना भी हो सकती थी।''

पिताजी से इस तरह के सवाल हम लोग कभी करते नहीं थे। मैंने उनसे यह बात बड़ा साहस बटोरकर पूछी थी।

मेरी ओर देखकर पिताजी बड़े सहज भाव से बोले -

''बेटा, पोस्टकार्डों की वे गड्डियाँ अपनी नहीं हैं। वे ट्रस्ट की हैं। इसी तरह वहाँ के नौकर ट्रस्ट के नौकर हैं। हम अपना छोटा-से-छोटा काम भी उनसे कैसे ले सकते हैं? हम उन्हें तनख्वाह तो नहीं देते ।उनसे काम लेने का मतलब उनसे बेगार कराना। यह बात तो एकदम ठीक नहीं हैं।

तुमने देखा था कि मैंने वहाँ की कलम, स्याही तथा दावात का इस्तेमाल किया था ।वहाँ के डेस्क पर मैंने लिखा था इसलिये दान-पेटी में कम-से-कम एक पैसा डालना तो बड़ा जरूरी था।''

मैं अवाक् होकर पिताजी का मुँह देख रहा था। उनके शब्दों में तथा उनकी आखों में कोई बड़ा गहरा संदेश झलक रहा था।

मेरे पितामह पूज्य श्री श्यामाचरण लाहिड़ी, जो दुनिया में 'लाहिड़ी महाशय' के नाम से जाने जाते हैं, तत्कालीन सरकार के नौकर थे। पूरे समय के बाद वे सेवा-निवृत्त हुए थे। रिटायर होने के बाद खर्चा चलाने के लिये वे देवकी नन्दन की हवेली में जाकर ट्यूशन पढ़ाते थे। बाद में राजा साहब बनारस के आग्रह पर वे उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिये प्रतिदिन नाव से रामनगर जाने लगे। घर से खा-पीकर समय से निकलते, फिर शाम तक वापस लौटते।

बीच में मैंने जिज्ञासा की- "महाशय जी, उन दिनों मालवीय ब्रिज तो था नहीं। बरसात के दिनों में रोज का आना-जाना तो एक बड़ी समस्या रही होगी?"

"बरसात के दिनों में गंगा के बढ़ जाने पर वे सोमवार को जाते और शनिवार को वापस लौटते थे। ड्यूटी तो ड्यूटी!"

पूज्य लाहिड़ी महाशय! उन ब्रह्मज्ञ महात्मा के विषय में ये बातें सुनकर मैं हैरान रह गया।

कुछ क्षण चुप रहने के बाद श्री सत्याचरण जी आगे बोले-

"खून की बात है। अपने देश का खून बहुत बदल गया है। इस देश का भविष्य अभी बड़ा धुँधला है। सनातनता का गीत तो बहुत प्रेरणा देने वाला है; लेकिन कुछ किये बिना आदमी बदलता नहीं है। भविष्य के विषय में मैं कुछ कह नहीं पा रहा हूँ।"

श्री सत्याचरण जी चुप हो गये थे। यह निश्चित था कि वे मेरी जिज्ञासा की उपेक्षा नहीं कर रहे थे; लेकिन लगता था कि इसी बीच वे कहीं गहरे में उतर गये थे।

मैने अपनी हिम्मत नहीं हारी। अपनी जिज्ञासा का रूप बदलते हुए मैंने उनसे कहा- "महाशय जी, हम लोग अपनी सामाजिक अल्पज्ञता से भरे हुए हैं, लेकिन हम लोगों ने यह बात आप लोगों से ही सुनी है कि सरकारें तो निमित्त मात्र हैं। सारे निर्णय तो कहीं ऊपरी तल पर होते हैं। घटनाएँ तो पहले से ही घट चुकी होती हैं। इस तल पर तो उनका कार्यान्वयन भर होता है।

महाशय जी, मैं उस निर्णय को पूछ रहा हूँ जिसे कार्यान्वित होने में कुछ समय लगता है और नहीं भी लगता है। आप लोगों के मुख से ही यह सुना गया है कि भारत एक देश होने के साथ-साथ इस ग्रह का आध्यात्मिक केन्द्र भी है।

अतः भारत के भविष्य के विषय में वहाँ क्या निर्णय लिया जा रहा है ? महाशय जी ! आप समर्थ हैं। मेरी इस आतुर जिज्ञासा का समाधान आप अवश्य करें।''

मेरी बातें सुनकर वे बड़े प्रसन्न जान पड़े। उनके श्यामल मुख पर रक्त दौड़ने लगा और वे मुझे बड़ी करुणापूर्ण आँखों से देखने लगे।

कुछ देर बाद उन्होंने कहा- ''भविष्य ठीक है ! लेकिन अभी समय लगेगा। ऊपर की दृष्टि बदल रही है। लेकिन उस दृष्टि का भारत के साथ कोई पक्षपात नहीं है। उस दृष्टि के सामने तो समूचा विश्व है। तब तक मैं शायद न रह पाऊँ; लेकिन आपकी पीढ़ी जरूर कुछ अच्छा देखेगी।''

**

यक्षिणी का शाप
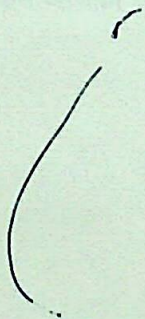
बाबा संमोहानन्द मुझे बड़े ध्यान से सुन रहे थे। इस भविष्यत् प्रसंग को सुनने के बाद उन्होंने कहा-

"उन्होंने सही कहा है। श्री सत्याचरण लाहिड़ी भविष्यदर्शी हैं। वे एक सम्प्रदाय-विशेष के गुरु हैं। उनके पितामह भगवत्पाद श्री श्यामाचरण जी लाहिड़ी एक महान् कर्मयोगी थे। लाहिड़ी महाशय के गुरु ने उनके ऐश्वर्य भाव को एक विशेष प्रक्रिया से एकदम समाप्त कर दिया था। वे एक 'नितान्त मनुष्य' की तरह व्यवहार करते थे। नकछेद पण्डित! याद रखना, जो व्यक्ति जितना बड़ा होता है वह उतना ही 'नितान्त मनुष्य' होता है। 'नितान्त मनुष्य' होना एक दुर्लभ बात है। 'नितान्त मनुष्य' वह होता है जिसके भीतर महासागर का बल होता है; लेकिन जो दिखाई पड़ता है एक कमण्डल के जल की तरह। 'नितान्त मनुष्य' वह होता है जो पृथ्वी को दो खण्डों में विभाजित करने की शक्ति रखता है; लेकिन जो देखने में एक मेमने की तरह लगता है। लाहिड़ी महाशय एक 'नितान्त मनुष्य' थे। मुझे उनसे सम्बन्धित एक घटना याद आती है।

एक बार वे बनारस में बटुकभैरव का दर्शन करके लौट रहे थे। तुमने तो देखा ही होगा कि वहाँ पहुँचने के लिये एक सँकरी सी गली पड़ती है। उस गली में लाहिड़ी महाशय के प्रति श्रद्धा भाव रखने वाले कुछ पण्डितों ने जब उन्हें वहाँ से लौटते हुए देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

एक पण्डित ने कहा-"महाशय जी आप और यहाँ ? आप स्वयं ब्रह्मज्ञ हैं। देवदर्शन के लिये यहाँ आपका उपस्थित होना कुछ समझ में नहीं आया। आपको क्या जरूरत है ?"

नकछेद पण्डित ! लाहिड़ी महाशय ने अत्यन्त विनयपूर्ण उत्तर दिया था। उन्होंने कहा था-"आप लोग सचमुच मेरे प्रति बड़ा ऊँचा भाव रखते हैं। लेकिन वैसा होने पर तो मुझे और आना चाहिये। मैं नहीं आऊँगा तो आप लोग कैसे आयेंगे ? हमेशा किसी जरूरत की ही बात नहीं होती है। देवदर्शन एक कर्त्तव्य है। देवता के पास निष्कारण उपस्थित होना चाहिए।"

इतना कहकर बाबा संमोहानन्द जैसे भावाविष्ट हो गये और खिड़की के पार कहीं कुछ देखने लगे।

एकाएक मुझे जैसे कोई भूलती हुई बात याद आयी। मैं बड़े उतावलेपन से बोला-"बाबा ! फणीश के साथ तो देवता ने बड़ा विचित्र व्यवहार किया। आपके विशेष उपचार ने उसे बचा लिया वरना वह एक पागल की तरह घूमता होता। साधन-भजन में ऐसा विघ्न क्यों पड़ता है ? यह तो देवता की बड़ी निष्ठुर प्रतिक्रिया है बाबा !"

"देवता कभी निष्ठुर नहीं होता। हमारा उतावलापन ही अपने- आपमें एक विघ्न की तैयारी है। चेतना के विभिन्न तल होते हैं। एक के बाद एक, सीढ़ियों का एक ऊपर उठता हुआ क्रम। जल्दबाजी में हम रपट जाते हैं, गिर पड़ते हैं और नुकसान उठाते है। मान लो। तुम हाईस्कूल के बाद एकाएक एम०ए० की गणित पढ़ने लगो-क्या होगा ? तुम्हारा दिमाग खराब हो जायेगा। तुम विक्षिप्त हो जाओगे। उसे रटने की कोशिश करोगे तो अनाप-शनाप बकने लगोगे। यह तो भौतिक जगत् की बात है। और वह तो चेतना का असीम संसार है, नकछेद पण्ड़ित ! कभी-कभी इस प्रकार प्रतारणा वर्तमान जीवन से ही नहीं, पिछले जन्म से भी मिलती है। जिस प्रकार मंगल क्रियारत होता है उसी प्रकार अमंगल भी प्रवृत्त होता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति के जीवन में

अमंगल के बीज उसके पिछले जन्म में पड़ चुके होते हैं। वे बीज़ उसके वर्तमान जीवन में परिपक्व होते हैं और उस पर बड़ा भीषण प्रभाव डालते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए मैं तुम्हें एक विलक्षण घटना सुनाता हूँ। मैंने यह घटना पूज्यपाद श्री दामोदरलाल जी गोस्वामी के मुँह से सूनी थी।

काशी तो वैसे ही दुनिया का केन्द्र है, लेकिन उन दिनों उसकी छटा कुछ अपूर्व थी। उस समय उस केन्द्र-भूमि पर हर क्षेत्र में बड़े निराले लोग विद्यमान थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महाकवि जयशंकर प्रसाद, ब्रजभाषा के महान् कवि जगन्नाथ दास रत्नाकर, मुंशी प्रेमचन्द्र आदि उन्हीं दिनों अपने चिन्तन तथा अपनी रचनाओं से हिन्दी को समृद्ध कर रहे थे। संस्कृत का क्षेत्र अपने बीच पं० शिव कुमार शास्त्री, टेढ़ीनीम के स्वामी मनीषानन्द जी, पण्डित उमापति द्विवेदी आदि अद्वितीय विद्वानों को पाकर प्रौढ़ि के शिखर पर पहुँच गया था और उस उन्नत शिखर को अपनी अलोकसामान्य प्रातिभ शक्ति से प्रदीप्त कर रहे थे। वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य पूज्यपाद श्री दामोदर लाल जी गोस्वामी।

पूज्यपाद जी प्रतिभा के उत्स थे। न्याय, व्याकरण, मीमांसा, दर्शन, साहित्य-सब कुछ तो उनके हाथ में रखे हुए आँवले की तरह था। नकछेद पण्डित! तुम्हें यह सुनकर कुछ अजीब लगेगा, लेकिन यह सही है कि जब वे प्रथमा के छात्रों को पढ़ा रहे होते तो उस समय कक्षा में आचार्य तक के छात्र मौजूद होते थे और इसी प्रकार आचार्य की कक्षाओं में वे प्रारम्भिक छात्रों को भी बैठने की अनुमति देते थे। उनकी अध्यापन शैली अद्भुत थी और वे हर विषय पढ़ाते थे। मैंने सुना है किं उस समय की प्रसिद्ध गणिकाएँ उनसे 'कामसूत्रम्' पढ़ती थीं। विदेशी जिज्ञासुओं तथा विद्वानों से मिलने के लिए उन्होंने अपने आवास में बाहर से सीढ़ियाँ बनवायी थीं।

नकछेद पण्डित ! वे जितने बड़े विद्वान् थे उतने ही सुन्दर थे। वे कामदेव की छटावाले विलक्षण आचार्य थे। उनकी बड़ी कृपा थी कि वे मुझे 'नैषध' पढ़ाने के लिये तैयार हो गये थे। जब सीढ़ियाँ चढ़कर मैं उनके विशिष्ट आवास की ओर लपकता तो मेरे नथनों से अनेकानेक इत्र की सुगन्धियों का एक झोंका सा आ टकराता और तभी सुनाई पड़ता सुगन्धित पान के बीड़े से रंजित उनका आह्लादमय स्वर।

"आइए ब्रजवल्लभ जी – स्वागत है।"

एक दिन विभिन्न उपासनाओं तथा उनके फलों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने अध्ययन काल की एक विशेष घटना सुनायी।

पूज्यपाद जी उन दिनों नवद्वीप में न्याय का अध्ययन करते थे। शायद तुम्हें मालूम हो कि नवद्वीप अभी भी न्याय का केन्द्र माना जाता है। नवद्वीप अर्थात् महान् नैयायिक चैतन्य महाप्रभु की लीलाभूमि !

एक दिन शाम के समय घूमते समय एक एकान्त स्थान में एक झाड़ी के पीछे अकस्मात् उन्हें एक व्यक्ति के रोने का स्वर सुनाई पड़ा। रुदन का स्वर किसी युवक का स्वर लगा। निकट पहुँचनें पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह तो उनका सहपाठी व्यंकटेश था। दक्षिण भारत का उनका अत्यन्त प्रतिभाशाली सहपाठी व्यंकटेश। हमेशा गम्भीर रहने वाला व्यंकटेश रो रहा था। रो क्या रहा था– हिचकियाँ ले-लेकर रो रहा था एक करुण क्रंदन– जो जैसे थम ही नहीं रहा था। वे हैरान रह गये। सान्त्वना

देते हुए उन्होंने उसकी पीठ पर हाथ रखा और उसके रोने का कारण पूछने लगे।

वह काफी देर बाद अपने-आप को सँभाल पाया और बड़ी मुश्किल से उन्हें अपना रहस्य बताने के लिये तैयार हुआ।

"पूज्यवर, मैं एक अत्यन्त सम्पन्न घराने का वारिस हूँ। मेरे पिता अपनी तरफ के एक बहुत बड़े जमींदार हैं और फिर बड़े जमींदार का बड़ा परिवार। हम लोग एक बहुत बड़ी हवेली में रहते हैं और हवेली इतनी बड़ी है कि हर छोटे-बड़े के लिये अलग-अलग छत है - एक दूसरे से एकदम अलग। घिरी हुई छतें हैं - परस्पर असम्बन्धित।

उन दिनों मैं उन्नीस को पार कर रहा था और मेरा एक ही शगल था - आखेट, मृगया। घुटनों तक के शिकारी जूते, हाथ में बंदूक-साथ में घुड़सवारी का बेहद चस्का। कोई दूसरा काम ही क्या था ? सुबह-सबेरे का थोड़ा सा अध्ययन और फिर बस। पूज्यवर ! मेरा यह शरीर अब एकदम बदल गया है। उस समय मैं एक बलिष्ठ राजकुमार था। कानों में कुण्डल, सिर पर कीमती पगड़ी, नायाब अचकन और गले में खिलखिलाते बहुमूल्य हार।

उस समय मेरी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। अध्ययनकाल के बाद मैं अपने प्रिय घोड़े पर एक शिकारी के वेश में दूर-दूर तक फैले जंगलों की ओर निकल जाता और कभी-कभी शाम तक लौटता था। मुझे मृगया का उन्माद हो गया था और घोड़े की पीठ पर भटकते रहना जैसे मेरा स्वभाव बन गया था। एक दिन ऐसे ही दिन ढलने पर बेहद थका-माँदा जब मैं वापस लौटा तो सीढ़ियाँ चढ़ते हुए सीधे अपनी छत पर पहुँचा और वहाँ बिछी हुई पलंग पर उसी लिबास में लेट गया।

गर्मी के दिनों की थकान। कुछ ही पलों में मैं गहरी नींद में उतर गया।

उस समय क्या बजा था यह तो मैं नहीं बता सकता; लेकिन सन्नाटे से लगता था कि आधी रात बीत चुकी थी। मेरी नींद-अचानक खुल गयी थी और ऐसा लग रहा था जैसे कोई मुझे अस्पष्ट शब्दों में पुकार रहा हो। संभवतः वैशाख की अमावस्या थी और समूचा आकाश तारामण्डलों की जमावट से जानदार सा लग रहा था। तभी मेरी दृष्टि उत्तर दिशा के एक अत्यन्त प्रदीप्त सितारे पर टिक गयी। उस सितारे में न जाने कौन सा जादू था कि मैं उसे अपलक देखने लगा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने उसे कुछ क्षण बाद आकाश में चलते हुए देखा।वह सितारा चलने लगा और चलते-चलते ठीक मेरी पलंग की सीध में आकर आकाश में स्थिर हो गया। अब उसकी चमक दस गुनी हो गयी थी और मेरी फैली हुई आँखें विजड़ित होकर उससे बँध सी गयी थीं।

यह क्या। वह प्रकाश-पुंज अब नीचे उतर रहा था। मेरी छत की ओर धीरे-धीरे क्रमशः उतरते समय अब वह उर्ध्वाधर लम्बा लगने लगा था। उतरने के क्रम में कुछ क्षण बाद उस ज्योति-पुंज में कोई आकृति सी झलकी। अरे! प्रकाश वलय में लिपटी हुई यह तो कोई सद्यः युवती है। ब्रह्मदेव की वह अनुपम रचना, सौन्दर्य से दमकती हुई वह परम रमणीय बाला मेरी छत पर मेरी पलंग के सामने उतर गयी। मैं हठात् उठ बैठा और निर्निमेष भाव से उसे देखने लगा। मेरे नासापुट एक दिव्य सुगन्ध से बेचैन होने लगे। अचानक मैं मधुर प्रकाश, अपार्थिव सौन्दर्य तथा मादक भँवरजाल

में फँस गया। अगले ही क्षण वह मुग्ध स्मिति के साथ मेरी पलंग की ओर बढ़ने लगी। एकान्त में रमणी सम्पर्क से अनभिज्ञ मेरे मुख से अकस्मात् निकला – "आप कौन हैं ?"

"बताती हूँ" – ऐसा कहते हुए एक खनकभरी हँसी के साथ आगे बढ़ते हुए उसने मुझे अपनी बाँहों के घेरे में लेकर एक अत्यन्त उत्तप्त तथा कालव्यापी चुम्बन लिया। वह कह रही थी–

"ओह ! कितना काल बीत गया। वर्ष पर वर्ष, ऋतुओं पर ऋतुएँ, दिन पर दिन – रात पर रात – जैसे अनन्त काल बीत गया तुम्हारी प्रतीक्षा में। उस क्षण के बाद, तुम्हें ढूँढने के लिये रोज निकलती रही हूँ। तुम्हारी खोज में मैं समूची पृथ्वी, सारी दिशाएँ छानती रही हूँ। तुम्हारे अन्वेषण में आज मैं जब फिर निकली तब तुम मुझे दूर से ही दिख गये। तुम मेरे हर्ष की कल्पना नहीं कर सकते। तुमने मुझे आकाश में चलते हुए देखा होगा – तुम मेरी उस हर्षोल्लासमय चाल का अन्दाजा नहीं लगा सकते राजवंश !"

"लेकिन मेरा नाम व्यंकटेश है। मेरा नाम राजवंश नहीं है। पहचानने में तुमसे कोई भूल जरूर हुई है। लेकिन तुम कौन हो ?"

उसके आतुर स्पर्श से मेरा शरीर उष्णता की उस सीमा तक पहुँच रहा था जहाँ संज्ञाओं, विशेषणों तथा लिंगों का बोध समाप्त होने लगता है। उस क्षण विशेष में मैं उसे तमकारने लगा था।

"तुम इस जन्म में व्यंकटेश हो – अपने पिछले जन्म के मेरे राजवंश ! काया बदल जाती है–आत्मा थोड़े बदलती है। बाह्य रूप तथा नाम बदल जाता है ; लेकिन आत्मा जो मूल अस्तित्व है वह कहाँ बदलती है। मनुष्यों की दृष्टि शरीर तक सीमित है, बाहरी रूप तथा नाम पर थम जाती है। भेदन नहीं कर पाती। मनुष्य

एक असमर्थता का नाम है मेरे राजवंश ! कितना भी बड़ा मनुष्य हो, लेकिन उसके पास कुछ नहीं होता। मनुष्य एक बड़ी भिखमंगी चीज है। बड़े आयाम हैं, अनेक तल हैं ! साधना-विहीन मनुष्य कितनी ही उन्नति कर ले, एक पशु से बस हल्का सा, एक अंश भर ऊँचा होता है-बस एक अंश। इतना ऊँचा कि बस गिरा तो पशु-तल पर भी नहीं ठहरता-गिरता ही जाता है। धन, समृद्धि, ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा भोग से विहीन - मनुष्य एक बड़ी बेचारी चीज है, राजवंश ! मनुष्य का भाग्य एक संयोग विहीन भाग्य है। स्त्री के बाद स्त्री चाहता फिरता है। एक चटोरे का नपुंसक-भोग। स्त्री तो एक इशारा है। जाना तो उसे कहीं और है, संभोग तो एक संकेत है - एक दिशा की ओर उठी हुई उँगली। मेरी ओर देखो। दिव्य सुगन्ध से भरे हुए मेरे इस रूप को देखो। इन दमकते हुए वस्त्रों तथा खनकते हुए मेरे इन प्रभामय आभरणों में अपने मनुष्यभाव को एकदम भूल जाओ। मैं यक्षलोक की एक महान् यक्षिणी हूँ। मेरा नाम विश्वलेखा है। पिछले जन्म में तुमने मेरी कामना की थी। उठो, रात बीत रही है। मेरे दिव्य लोक में चलो।

पूज्यवर ! वह मुझे अपनी बाँहों के घेरे में लिये हुए आकाश मार्ग से उत्तर की दिशा की ओर उड़ चली। आकाश-गमन का रोमांचक अनुभव।

नीचे, बहुत दूर नीचे कहीं-कहीं बहुत झिलमिलाती हुई बत्तियाँ- अभी दिखीं और अगले ही क्षण दृष्टि से ओझल। आकाश के तारे बहुत नजदीक लग रहे थे- लगता था कि यह उठा हुआ हाथ और यह रहा तारा। वह मुझे हवाओं पर तैराती, आलिंगन तथा चुम्बनों से शराबोर करती हुई हिमालय की किसी गुफा के सामने कुछ ही पलों में पहुँच गयी।

गुफा के उस पार एक बड़ा आलोकमय प्रदेश था। वहाँ न तो दिन था और न रात थी। वहाँ न तो प्रकाश था न अँधेरा था; लेकिन सब कुछ प्रभामय था। एक शान्त स्निग्ध प्रभा ! जैसे एक झिलमिलाती आभा हर वस्तु से अपने आप फूट रही थी। प्रभापूर्ण वस्तुएँ! चारों ओर एक अपार्थिव प्रभा फैली हुई थी। वह मेरा हाथ थामे हुए बड़े चपल भाव से मुझे अपने यक्षलोक की सैर करा रही थी।

अद्‌भुत जीवन्त हवा। उस हवा में जैसे मेरा संपूर्ण शरीर श्वास ले रहा था। चारों ओर चमकदार हरितिमा फैली हुई थी। चमकदार तथा सुगन्धित पुष्पों का रस लेते हुए भौंरे और मधुमक्खियों के झुण्ड। सुन्दर पंखदार पक्षी। मनोहर पंख वाले कबूतरों के झुण्ड कभी उस श्यामल भूमि पर बैठ जाते तो कभी अत्यन्त नील आकाश में चक्कर मारने लगते। जल-प्रपातों का छनता हुआ पानी और पर्वतीय नदियों का उफनता हुआ जल-स्रोत न जाने किस अभिसार लीला का संकेत कर रहे थे। अनोखे फलदार वृक्ष! उसने मुझे दिव्य सुगन्धित फल खाने के लिए दिये। उन्हें खाकर मेरे शरीर में जैसे कई हाथियों का बल पैदा हो गया। उस समय मैंने उस सौन्दर्य-राशि को अपने बाँहों में उठा लिया और समीप के मणिद्वीपों से आलोकित तथा विभिन्न सुगन्धों से आकुल रति-कक्ष में एक अत्यन्त विशाल पलंग पर उसे लेकर मैं लुढ़क गया।

पूज्यवर ! वह मेरी दिनचर्या हो गयी। मध्य रात्रि में विश्वलेखा का आगमन होता और एक याम तक प्रणयलीला के

विभिन्न सोपानों पर चढ़ाती-उतारती हुई वह ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व मुझे अपनी हवेली में पहुँचाकर लुप्त हो जाती। वह आमोद-प्रमोद तथा ऐन्द्रिक सुख सचमुच मनुष्यों के भाग्य में नहीं लिखा है।

विश्वलेखा के चले जाने के बाद मेरा शेष सारा दिन आतुर प्रतीक्षा तथा विरह ज्वर में व्यतीत होता। उस यक्षिणी के सहवास से मैं अपने आप को एक बड़ा खुशनसीब नौजवान समझने लगा था।

कुछ दिनों बाद वह रंगीन रातों का अन्तहीन सिलसिला संभवतः अन्य लोगों की निगाहों में आने लगा। मैं क्रमशः दुर्बल तथा विवर्ण होता जा रहा था। ऐसा नहीं था कि इस बात का मुझे अनुभव नहीं हो रहा था, बराबर हो रहा था। लेकिन विश्वलेखा का यक्ष-सहवास और मनुष्येतर आनन्द मेरे खून में उतर गया था। मैं उससे अलग होने की कल्पना कर ही नहीं सकता था। शायद वह नशा, जो आदमी के रक्त में मिल जाता है उसे तड़पा-तड़पा डालता है। वह यक्षिणी विश्वलेखा वैसा ही नशा थी फिर मुझे उसे पाने के लिए भटकना कहाँ था। विश्वलेखा वह स्रोतस्विनी थी जो मुझ प्यासे के पास स्वयं पहुँचती तथा मनुहार के अमोल बोलों से मेरे मुरझाते शरीर में नई जान डालती और मैं अनोखा रतिरसमयी उस भोगी यक्षलोक में उसके काममय शरीर से अमरबेल की तरह लिपट जाता।

मेरी शारीरिक गिरावट किसी की समझ में नहीं आ रही थी और मैं तो बस बताने से रहा!! कोई प्रश्न ही नहीं था। उस समय मैं डाक्टरों, वैद्यों और अनुभवी हकीमों के हाथों से निकला जा रहा था। कोई रोग हो तब तो पकड़ में आये। लेकिन मेरा शरीर दुर्बल होता जा रहा था, कान्ति क्षीण होती जा रही थी। मेरी दिनभर की

घुड़दौड़ बन्द हो गयी थी और अहेरी व्यंकटेश संभवतः किसी विदेश यात्रा पर निकल गया था।

फिर विचारवान पण्डित तथा भविष्य-कथन करने वाले गण्यमान ज्योतिषी बुलाये जाने लगे और फिर अन्त में तांत्रिकों की बारी तो आनी ही थी। काशी के किसी पहुँचे हुए तांत्रिक के सामने वह सारा गोलमाल, सारा रहस्य दिन की तरह स्पष्ट हो गया।

रक्तवसन तथा त्रिशूल धारण करने वाले वे एक अमोघ तांत्रिक थे। जिस समय वे मेरी दाहिनी भुजा पर अपना सिद्ध ताबीज बाँध रहे थे उस समय उनकी आँखें संभवतः मद्य के प्रभाव से लाल हो रही थीं। उनके मुख- मण्डल पर एक भयंकर दृढ़ता थी और जिस मन्त्र का वे अस्फुट स्वर में जप कर रहे थे उसमें 'कालभैरव' तथा 'काली'-ये दो पद रह-रहकर पुनरावृत्त हो रहे थे। ताबीज बाँधने के बाद वे अपने व्याघ्रचर्म पर घुटनों के बल बैठ गये और दाहिने हाथ से अपना भारी त्रिशूल उठाकर दिग्बन्धन करने लगे। तत्पश्चात् मेरी हवेली के मुख्य द्वार पर उन्होंने कोई विलक्षण प्रभावशाली सिद्धयंत्र लटका दिया और अंत में रात में मध्यरात्रि कें आस-पास मुझे अपने कमरे से बाहर निकलने तथा छत पर जाने की उन्होंने एक अत्यन्त प्रतापी निषेधाज्ञा जारी कर दी।

ठीक आधी रात को मेरी सम्मोहित नींद अचानक खुल गयी। मेरा नाम लेकर कोई पुकार रहा था- व्यंकटेश नहीं -"राजवंश! राजवंश!"

मैंने चौंककर खुली खिड़की की ओर देखा। मेरी यक्षिणी खड़ी थी। पूज्यवर! मानव बालाएँ तो क्रमशः वर्धमान होती जाती हैं और उनका थमा हुआ यौवन कुछ काल के बाद हा समान होकर परिलक्षित होने लगता है। अन्ततः हम लोग पार्थिव ही तो हैं। लेकिन उन लोगों की अपार्थिव देह संभवतः समयातीत होती है। उनकी दुर्लभ काया केवल प्राण तथा ज्योति के स्पन्दनों से निर्मित होती है। शायद इसीलिये यक्ष-लोक में न दिन होता है, न रात होती है। एक अमृत चाँदनी में डूबा हुआ वह लोक काल के बन्धनों से मुक्त होता है। जैसे रात के समय यदि हम आकाश में उठते चले जायँ तो आकाश का कहीं अन्त नहीं मिलता, तारामंडलों की संरचना ज्यों-की -त्यों दृष्टि-गोचर होती है, आकाश वैसा ही हर समय स्वतः स्फूर्त, ताजा और जवान लगता है। मेरी विश्वलेखा वैसा ही आकाश थी। वह सदाबहार भूमि जिस पर सारी ऋतुएँ एक साथ विद्यमान होती हैं। समवेत ऋतुओं के समवेत पुष्प, समवेत सुगंधें तथा समवेत परिवेश!

मेरी खिड़की से एक बाल मात्र की दूरी पर मेरी अनोखी यक्षिणी खड़ी थी। और अपनी लुब्ध तथा स्मितिपूर्ण आँखों से मुझे निहारती हुई अपने संगीतमय उच्चारों में मेरा आह्वान कर रही थी-

"राजवंश! यह क्या? ऊपर आओ! अपनी बाँह पर क्या बाँध रखा है। उसे उतार फेंको। द्वार पर क्या लटका रखा है? उसे नोंचकर फेंक दो। कमरे से जल्दी निकलो। ऊपर आओ। बेला बीत रही है। विहार का समय समाप्त हो रहा है। क्या सोच रहे हो प्यारे राजवंश!"

पूज्यवर! पता नहीं मुझे क्या हो गया था? मेरी सहचरी खड़ी थी! उससे मिलने के लिए मैं कितना विकल हो रहा था; लेकिन

मेरी सारी चेष्टाएँ जैसे अवरुद्ध हो गयी थीं। मैंने अनेक बार चाहा कि उस ताबीज को उतार फेकूँ और दौड़ पड़ूँ ; लेकिन मैं तो आविष्ट था। मेरी स्वतन्त्र चेतना किसी घेरे में बन्द हो गयी थी। स्वयं मैं था ही कहाँ ? मैं कुछ नहीं कर सकता था। बस एकटक मैं अपनी यक्षिणी को निहार रहा था। अवश, लाचार, किंकर्त्तव्यविमूढ़, मन्त्राविष्ट तथा निश्चेष्ट। विश्वलेखा उसी तरह खिड़की के पास आकाश में खड़ी होकर मुझे पुकार रही थी, करणीय सुझाव दे रही थी। और आमंत्रण के मोहक बोल बोल रही थी। लेकिन मैं तो पत्थर बना हुआ था-पत्थर ! चेष्टाहीन पाषाणखण्ड !! शायद उसका समय हो गया था। उसी तरह मेरा आह्वान करती हुई वह एकाएक लुप्त हो गयी।

पूज्यवर ! यह अद्भुत सिलसिला एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, तीन दिन नहीं-पूरे एक महीने तक चला। विश्वलेखा ठीक आधी रात के समय मेरी खिड़की के पास आकर खड़ी हो जाती और सुगंध तथा उसके संगीतमय बोल मेरे प्राणों को बेचैन करने लगते। मैं एक विराट् मौन में जकड़ा हुआ उसे अपलक निहारने लगता।

पूज्यवर ! आदमी कितना खुदगर्ज होता है। लोग मेरा भविष्य देख रहे थे और विश्वलेखा को एक अपकर्म की तरह मुझसे काट रहे थे। लेकिन उस यक्षिणी की तड़प का किसे पता था। यह सही है कि देवता कृतघ्न नहीं होता, आदमी कृतघ्न होता है। लेकिन सबकी एक सीमा है, देवता की भी एक सीमा है।

तीस दिनों तक मिलन प्रतीक्षा करते-करते मेरी विश्वलेखा हार गयी। उस टूटी हुई यक्षिणी ने विदा होते समय ये अन्तिम वाक्य कहे-

"राजवंश ! जा रही हूँ, अब फिर आऊँगी । पिछले जन्म में तुमने मेरी साधना की थी । और दुर्भाग्य कि सिद्धि की रात में तुम्हारा अचानक देहावसान हो गया । तुम्हारी साधना पूरी हो चुकी थी ; लेकिन सिद्धि के रूप में उस समय अचानक देहपात के कारण मैं तुमसे नहीं मिल पायी । मैं तुम्हें मिल ही चुकी थी । लेकिन तुम नहीं रहे । उस क्षण के बाद उद्भ्रान्त होकर मैं तुम्हें समूची धरती पर खोजती रही । राजवंश ! मेरा कोई अपराध नहींहै साधना तुमने की, सिद्धि तुम्हें मिली । अब मैं जा रही हूँ । लेकिन याद रखना तुम जीवन भर बेचैन रहोगे । दुःख और संताप के महासागर में एक छोटे द्वीप की तरह निरन्तर डूबते चले जाओगे । तुम्हें पता न चलेगा और तुम्हें रह-रह कर एक ऐसी भयानक पीड़ा आच्छन्न करती रहेगी जिसका कोई इलाज न होगा । तुम्हारा सारा जीवन अंतहीन वेदना की आग में झुलसता रहेगा । तुम जीवन भर रोते रहोगे ।"

पूज्यवर ! इतना कहकर वह लुप्त हो गयी । लेकिन उसके लुप्त होते ही मुझे ऐसा लगा जैसे दुःख का पहाड़ मुझ पर गिर पड़ा, मैं परम विषाद तथा खिन्नता के भँवरजाल में चक्कर काटता हुआ उस अग्निलोक में जलता हुआ गिरता जा रहा था, जिसकी लपटें आकाश तक उठ रही थीं । एक अंतहीन, कलमुँही पीड़ा बड़े-बड़े बोझ की तरह मेरी चेतना पर गिरती जा रही थी, गिरती जा रही थी, गिरती जा रही थी । उस क्षण के बाद मैं मर गया, व्यंकटेश मर गया । एकांत में मैं अपार दुःख से भर जाता हूँ । विषाद की एक काली छाया मुझ पर हर ओर से टूटने लगती है । उस समय एक दुर्घट विलाप ही मेरा साथी होता है । यह सोचकर कि शायद न्याय की ग्रंथियों में मेरा चित्त समाहित हो जाय, मैं यहाँ नवद्वीप में न्याय पढ़ने चला आया । लेकिन पूज्यवर !

विश्वलेखा का शाप बड़ा दुर्दमनीय है। उसकी शापाग्नि में मैं शायद इसी प्रकार जीवन भर झुलसता रहूँगा।''नकछेद पण्डित ! पूज्यपाद जी ने मुझे उन अम्लान तथा बेहद सुगंधित यंक्ष–लोक के पुष्पों के भी दर्शन कराये थे जिन्हें व्यंकटेश ने उन्हें अपना अत्यन्त अन्तरंग मानकर यादगार के तौर पर भेंट किया था।

''अच्छा, नकछेद पण्डित ! अब कल सुबह भेंट होगी।''

''लेकिन आप यहाँ कैसे आ गये ?''

''यह चर्चा कल होगी।''

**

महारास

सुबह की बैठक में श्रद्धा-पुष्प तथा मालाएँ ग्रहण करने के बाद बाबा संमोहानन्द ने पटना की प्राध्यापिका डा० ज्योत्सना सिंह से प्रश्न किया- ''बेटी, क्या तुम महर्षि विश्वामित्र के नाती का नाम बतला सकती हो ?

''नाती ? क्या भरत ?''

''हाँ, भरत ! जिसके नाम पर अपना देश भारत कहलाता है। भरत के खून में अप्सरा का रक्त मिला हुआ था। दर-असल उस समय रक्त-मिश्रण की यह प्रक्रिया एक बड़े सार्थक विज्ञान का रूप ले चुकी थी। उन कालज्ञानी महर्षियों ने रक्त की मूलभूत गुणवत्ता पर जिन्हें आजकल जीन्स कहते हैं, बड़ी गहराई से विचार किया था और भ्रूण-विज्ञान का बड़ी सतर्कता से विकास किया था। अपने देश में निश्चित रूप से ज्ञान की वह कड़ी अब उलब्ध नहीं है; लेकिन यूरोप में इस पर बड़ा काम हो रहा है। तुमने 'परखनली-शिशु' का नाम सुना होगा। पश्चिम ने जीन्स की महत्ता समझ ली है और वहाँ अत्यन्त प्रतिभावान् बच्चों की एक नयी नस्ल तैयार हो रही है।

कड़ी टूट गयी है। लेकिन खोजना तो चाहिए। हम अभी भी नहीं तलाश रहे, हम अभी भी नहीं खोज रहे। अतीत तो एक संकेत भर होता है। आदमी की पहिचान उसके वर्तमान से होती है। हमने ढूँढ़ना बन्द कर दिया है। हम किनारे पर बैठ गये हैं। सूखी हुई नदी, दग्ध वन तथा भूमिगत नगरों का क्या महत्त्व है ? हमें खोजना चाहिए, लेकिन हम खोज नहीं रहे। हमें सोचना चाहिए, लेकिन हम सोच नहीं रहे। मैथिलीशरण गुप्त ने बड़ी अच्छी बात कही है-

"हम कौन थे ,क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ?

आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी। । "

कुछ क्षण चुप रहने के बाद बाबा संमोहानन्द फिर बोलने लगे।

"धृतराष्ट्र के सभी पुत्र परखनली शिशु थे। महर्षि व्यास ने सद्योजात माँसपिंड को सौ टुकड़ों में विभक्त करके अलग-अलग पात्रों में विकसित होने के लिए रख दिया था। दुर्योधन, दुःशासन आदि सभी विभिन्न पात्रों में संवर्धित किये गये थे।

जिस प्रकार एक देवांगना के साथ महर्षि विश्वामित्र की चर्चा है, उसी प्रकार देवताओं के साथ यहाँ के स्त्रियों के सम्पर्क की भी चर्चा है। वह सभी प्रक्रिया साधारण गुण सम्पन्न संतानों को ध्यान में रखकर बड़े सुनियोजित ढंग से क्रियाशील थी और उसके बड़े अच्छे परिणाम निकल रहे थे। अर्जुन, भीम, कर्ण आदि का नाम तो हम जानते ही हैं।

तो बेटी, महर्षि विश्वामित्र एक कालज्ञानी पुरुष थे। गायत्री के द्रष्टा ऋषि पर कोई शासन नहीं कर सकता। वे नूतन सृष्टि के जनक थे। तुमने महर्षि याज्ञवल्क्य का नाम तो सुना होगा। ये उन्हीं के पुत्र थे।

ज्योत्सना बेटी, तुम महर्षि कृष्णद्वैपायन के परदादा का नाम बता सकती हो ?"

"वह तो मैं नहीं जानती।"

"महर्षि वशिष्ठ थे उनके परदादा। वह एक बड़ी जीवन्त कड़ी है। अयोध्या के लुप्त होते हुए वंश के स्रष्टा-पुरुष : महर्षि वशिष्ठ। जिस प्रकार हस्तिनापुर की रुद्ध चन्द्रवंशीय परम्परा को नई कोपलों से महर्षि व्यास ने सजाया था ठीक उसी प्रकार अयोध्या

के सूर्यवंश का प्रदीप महर्षि वशिष्ठ ने प्रज्ज्वलित किया था। बड़ी पुरानी बात है। कड़ी टूट गयी है और हम लोग सब कुछ भूल गये हैं।"

संभवतः पिछले दिन की वार्ता की कड़ी कुछ शेष रह गयी थी। इतना कुछ बोलने के बाद बाबा संमोहानन्द एकदम चुप हो गये।

कुछ पलों की चुप्पी को तोड़ते हुए डा० ज्योत्सना सिंह हँसते हुए बोल पड़ीं- "लेकिन बाबा ! आज हम लोग आपसे कुछ महारास पर सुनना चाहते हैं। आपने कल वादा किया था।"

"महारास पर मैं नहीं, नकछेद पण्डित बोलेंगे। महारास पर बोलने के ये अधिकारी व्यक्ति हैं।" बाबा संमोहानन्द मुझे अपनी अत्यन्त निर्मल आँखों से देखते हुए बोले।

"बाबा, मैं ? और महारास पर बोलूँगा ?"

"हाँ तुम ! तुम महारास पर बोलोगे। मुझसे तुम छिपाने की कोशिश मत करो। मैं तुम्हें बहुत पहले से जानता हूँ। इलाहाबाद की भेंट पहली भेंट नहीं थी। मेरी तुमसे पहली भेंट वृन्दावन में हुई थी। उस वर्ष तुमने यूनिवर्सिटी में प्रवेश लिया था। उस समय दीपावली पड़ रही थी। तुम मुश्किल से पन्द्रह वर्ष के छोकरे थे। याद आया ? तुम भीड़ के साथ लगे चले जा रहे थे, तभी मैंने तुम्हें केलों के एक छोटे से कुंज के पीछे से आवाज दी थी।"

"ओ ब्वाय ! याद है ?"

"बाबा एकदम याद है। लेकिन वह आप थे, यह विश्वास नहीं हो रहा है। उस व्यक्ति के शरीर का रंग तो साँवला हो रहा था और कहाँ आप शुभ्र गौर वर्ण ! साथ ही, मुझे यह भी याद है कि उस व्यक्ति के शरीर पर तो मात्र कौपीन थी एक वह भी बस केले के छाल की कौपीन। शेष सारा शरीर नंगा था।"

"उन दिनों मैं राधाभाव में था। जमुना की रेती में घंटो पड़ा रहता था। पड़ा क्या रहता था। -उस बालुका-राशि पर लोटता रहता था। धूप में रेती पर पड़े-पड़े मेरे शरीर का रंग श्यामल हो गया। उन दिनों मैं बावला समझा जा रहा था। नकछेद पण्डित ! मैंने ही तुम्हें आवाज दी थी- ओ ब्वाय !

उस समय किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मैंने तुमसे अंग्रेजी में बात की थी। तुम अपनी नयी-नयी अंग्रेजी में एस-नो में जवाब दे रहे थे।"

"यह सब तो सही है बाबा; लेकिन केलों के कुंज के पीछे छिपकर आप ही खड़े थे-इस बात पर विश्वास नहीं हो रहा।"

"क्यों विश्वास नहीं हो रहा ? ठीक है। यह बताओं की मथुरा के एक धर्मशाले में यह सोचकर किसने अपने जूते उतार कर रख दिये थे कि उस ब्रज-मण्डल में जूते पहनकर कैसे प्रवेश करूँ, जिस पर कृष्ण कभी नंगे पाँव चले थे ? किस व्यक्ति ने तुमसे कहा था : मस्ट गो टु राधाकुण्ड। अब विश्वास हुआ ? वह मैं ही था। इन बातों को तुम्हारे अलावा कोई नहीं जानता, सिर्फ मैं जानता हूँ; क्यों कि मैं साक्षी हूँ।" इतना कहकर बाबा संमोहानन्द मेरी ओर अपनी करुणा प्लुत आँखों से देखने लेग।

वहाँ पर उपस्थित समाज से कुछ देर के लिए शायद हम लोग कट से गये थे। मैं बाबा संमोहानन्द को यह सोचते हुए एकटक देख रहा था कि आखिर यह बाबा संमोहानन्द चीज क्या है !

इस आकस्मिक अन्तराल पर पर्दा डालते हुए बाबा संमोहानन्द बोले –

"बोलो नकछेद पण्डित ! कृष्ण पर कुछ तो बोलो।"

"आपकी आज्ञा है तो बोलूँगा बाबा ! लेकिन महारास पर बोल पाना मेरे वश की बात नहीं है।"

"ठीक है। तुम महारास की भूमिका के रूप में ही कुछ बोलो।"

"बहुत पहले की बात है। इस बात को हुए वर्षों बीत गये। उन दिनों यूनिवर्सिटी में मैं एक विदेशी भाषा पढ़ रहा था और उस भाषा की प्राध्यापिका थीं डा० मारिया विदोली। इटली की रहने वाली थीं। रोम में उनका घर था। उनके प्रोत्साहन पर उस भाषा में देखते-देखते मेरी बड़ी रुचि हो गयी थी जिसके कारण वे मुझसे स्नेह करने लगी थीं। वे भारतीय महिलाओं के लिबास में रहती थीं और उन दिनों वे काशी के एक प्रसिद्ध पण्डित से विद्यानन्द स्वामी का 'जीवन्मुक्ति विवेक' पढ़ रही थीं। उनके साथ उनकी एक अंतरंग सहेली भी उस ग्रंथ को पढ़ रही थीं। वे यूरोप के किसी अन्य देश की रहने वाली थीं। नितान्त भारतीय परिधान को धारण करने वाली वह पश्चिमी महिला किसी के निर्देशन में 'लीला' विषय पर काम भी कर रही थी। कभी-कभी मुझे उनके उस भारतीय विद्यानुराग पर बड़ा आश्चर्य होता था। ईसाई होते हुए भी ईसाइयत का कहीं पता नहीं और भारतीय धर्म-दर्शन के प्रति यह अनुराग ! हम लोगों के हृदय में यूरोपीय लोगों के प्रति यह भाव सामान्यतः उठता रहता है। लेकिन मैं यहाँ उन लोगों के

सम्बन्ध में एक ऐसा विलक्षण प्रसंग उपस्थित करने जा रहा हूँ, जो बड़ा विस्मयकारी है।

एक दिन मैं डा० मारिया विदोली से अपने पाठ्य विषय की चर्चा के सम्बन्ध में उनके आवास पर विष्णु-भवन गया हुआ था। संयोग से उस समय उनकी सहेली भी वहाँ मौजूद थीं। अनौपचारिक बातचीत चल ही रही थी कि एकाएक मेरा ध्यान डा० विदोली की मेज पर रखी स्टेनलेस स्टील की शानदार फ्रेम से मढ़ी हुई एक तस्वीर पर चला गया। ब्लैक एण्ड व्हाइट में एक सतेज युवक की बड़ी सुन्दर सी फोटो थी। मैं पूछ बैठा-

"मादाम, यह आपके भाई की फोटो है?"

अक्सर वे अपने भाई की चर्चा करती थीं।

मेरा प्रश्न सुनकर वे दोनों महिलाएँ हँस पड़ीं- "आप पहिचान नहीं रहे। मेरे भाई की नहीं, यह जीसस क्राइस्ट की फोटो है।"

"ब्लैक एण्ड व्हाइट में एकदम फोटो की तरह है। क्षमा कीजिए।" मैंने कुछ झेंपते हुए कहा।

"देखिए, कितनी तेजवन्त फोटो है। तेज, गम्भीर, शान्त आँखें। चेहरे पर एक दृढ़ भाव। और एक आपके हँसोड़ तथा नचनिया कृष्ण हैं जो वंशी बजाते रहते हैं, युवतियों से रास रचाते फिरते हैं, और नग्नता के बड़े शौकीन हैं।"

उस महिला की इस टिप्पणी पर वे दोनों विदेशी महिलाएँ ठठाकर हँसने लगीं।

बड़ा विचित्र प्रसंग था। मैं एक छात्र की हैसियत से कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था और वे दोनों महिलाएँ कृष्ण को

स्त्री-लम्पट मानकर उनका मजाक उड़ा रही थीं। मैं अपनी भैरत में पानी-पानी तो हो ही रहा था; लेकिन मैं यह भी देख रहा था कि उनके भारतीय रहन-सहन पर एक पर्दा सा उठ रहा था और उनकी भारतीय धर्म-दर्शन की रुचि उसके प्रति उनके उपहास का पर्याय सी लग रही थी। मैं क्या बोलूँ ? लेकिन मैं ही बोल ही तो पड़ा-

"फिर भी कृष्ण और जीसस में बड़ा अन्तर है।"

मेरा आकस्मिक वाक्य सुनकर उनकी हँसी थम गयी। वह महिला बोली-

"अन्तर है ! अच्छा !! क्या अन्तर है ? प्लीज बोलिए। अन्तर बताइए।" उनकी विनोदपूर्ण आँखों में भारतीय देवी-देवताओं के प्रति बड़ी अवज्ञा झलक रही थी। उन महिलाओं की हँसी तो थम गयी थी; लेकिन उनका चेहरा यहाँ की अवतार-लीला के प्रति विचित्र तिरस्कारपूर्ण हँसी से सराबोर था। उस समय मैं एक नितान्त भिन्न स्थिति में था- बोलूँ तो क्या बोलूँ, कहूँ तो क्या कहूँ ?

तभी उस युवती ने वह चुनौती भरा वाक्य फिर दुहराया-

"क्या अन्तर है ? प्लीज, अन्तर स्पष्ट कीजिए।"

"देखिए, आप लोग बुरा न मानिएगा। मैं यूँ ही कह गया।"

"अब तो आपको अन्तर बताना ही पड़ेगा।"

वह विदेशी युवती फिर खिलखिलाकर हँसने लगी। वह मेरे उपर्युक्त वाक्य का बड़ा भद्दा मजाक उड़ा रही थी और बड़ी निर्लज्जता से हँस रही थी।

उस दिन यूरोपीय लोगों के प्रति बनी मेरी बड़ी अच्छी-अच्छी धारणाएँ टूट गयीं और मुझे उस जमीन का पता चल गया जिस पर मैं खड़ा था ! अच्छा ! तो ये लोग भारतीय धर्म तथा संस्कृति के साथ एक खिलौने की तरह खेलते हैं। जैसे भारतीय संस्कृति न हुई एक पतुरिया हुई। पतुरिया का नाच देखा, दिल बहला और चल दिये। हाय ! हाय ! हम सचमुच कितना गिर गये हैं। यह महिला 'लीला' पर काम कर रही है और कृष्ण को एक लम्पट समझती है। और कितने निर्लज्ज भाव से हँस रही है।अंग्रेजी में एक शब्द है: वूमनाइजर । यह कृष्ण को 'वूमनाइजर' समझती है । इस उपहासपूर्ण हँसी का अर्थ ही क्या है ? ओह !

डा० विदोली तो चुप थीं ; लेकिन वह अन्य महिला बार-बार अन्तर स्पष्ट करने की चुनौती देती जा रही थी। अन्ततः कुछ तो कहना ही था। मैं बोलने लगा-

"हम भारतीय जीसस क्राइस्ट को एक अवतार मानते हैं। चौबीस अवतारों में उनकी भी गणना है। क्राइस्ट भगवान् हैं। सम्पूर्ण भगवत्ता से ओत-प्रोत हैं। वे महासागर हैं ! उनका कृष्ण से अन्तर किन्हीं बातों को लेकर है। उनकी सम्पूर्णता में कोई कमी नहीं है।

"वे कौन सी बातें हैं ? प्लीज अन्तर स्पष्ट कीजिए। व्हाट इज द डिफरेंस ?"

"देखिए, आपका ध्यान महारास के कृष्ण तथा वस्त्रापहारी कृष्ण पर तो जा रहा है; लेकिन आप कालियदमनकारी कृष्ण को नहीं देख रही हैं। हमारे संचरण का आधार धरती मात्र है। जब कि एक सर्प थल-जल में समान रूप से चलता-फिरता है। दोनों ही उसके आधार हैं। हम जल में निराधार हैं। लेकिन कृष्ण उस

निराधार आधार पर संचरण करते हैं, उस महासर्प का दमन करते हैं और उसकी विस्तृत फणा पर अपनी प्रसन्न मुद्रा में वंशी बजाते हुए नृत्य करते हैं। इस कृष्ण को आप भूल रही हैं।

शायद आप उस कृष्ण को भूल रही हैं जिसने अखाड़े में अत्यन्त बलिष्ठ मुष्टिक और चाणूर की रंगे चटका दी थी, जिसने मस्त गजराज को अपने पैरों से दबाकर उसके दाँत उखाड़ लिये थे, और जिसने निःशस्त्र होकर मिलिट्री से घिरे हुए कंस के सभा-भवन में प्रवेश किया था, जिसने उछलकर सबके देखते-रहते अपने समय के उस महान् हिटलर का वध किया था और उसकी लाश पर खड़े होकर जिसने घोषणा की थी कि आज से मथुरा का राजा मैं हूँ। निस्सन्देह, आप उस कृष्ण को भूल रही हैं। कृष्ण एक हैं, लेकिन उनके रूप अनेक हैं। मुझे दुःख है कि लीलाधर कृष्ण के किसी एक रूप पर आप इसलिए ठहर गयी हैं क्योंकि वह यूरोपीय संस्कृति से बड़ा मेल खाता सा लगता है लेकिन बात वह नहीं है जो आप समझ रही हैं।"

अब उन युवतियों के चेहरों से विनोद का भाव एकाएक लुप्त हो गया था। लेकिन वह यूरोपीय युवती बड़ी जिद्दी निकली।

गम्भीर होकर बोली- "यह सब तो ठीक है। लेकिन आप अन्तर की बात कर रहे थे। अन्तर क्या है ?"

"देखिए, हम जब भी कहीं जुड़ते हैं, हमारा तर्क खो जाता है। क्राइस्ट ने कहा है : दूसरे की आँख का तिनका देखने से पहले अपनी आँख में पड़ी शहतीर को निकाल लेना चाहिए। वैसा होने पर दूसरे की आँख का तिनका अच्छी तरह से दिखेगा और ठीक से निकाला जा सकेगा।

आपका यूरोपीय तर्ककुशल मस्तिष्क उन अन्तरों को देख नहीं रहा और मुझसे बार-बार आग्रह कर रहा है। कम से कम तीन अन्तर तो बड़े स्पष्ट हैं।''

''अब बोलिए भी। प्लीज। पहेलियाँ न बुझाइए।'' वह फिर हँस रही थी।

बाबा यह सही है कि दुर्घटनाएँ कहकर नहीं आतीं। हो जाती हैं। और तब हम हाथ मलकर रह जाते हैं। उस समय भी एक दुर्घटना घटी और मेरा मन यूरोपीय मानस के प्रति बड़ा साफ हो गया।

उस महिला के मुझ पर लगातार पड़ते आग्रह की चोट ने मुझे विवश कर दिया और मैं बिना किसी दुराव के बोलने लगा।

''देखिए, पहला अन्तर स्पेस-टाइम का है। दिक्काल का अन्तर है। जीसस ने एक छोटे से क्षेत्र में अत्यन्त अल्प समय तक काम किया। तीस वर्ष्र की उम्र में तो वे वेतलहम में आये और वे अभी तैंतीस के भी नहीं थे कि लोगों से उन्हें सूली देदी। जब कि आप जानती हैं कि कृष्ण का कार्यक्षेत्र बड़ा विशाल था। वह विश्वव्यापी था। उन्होंने विश्वयुद्ध करवाया था। और भारतीय मान्यताओं के अनुसार वे इस धरती पर अपनी पूर्ण आयु तक रहे। कहा जाता है कि जरा नाम व्याध का तीर उन्हें एक सौ बीस वर्ष की आयु में लगा था।''मेरी बातों को सुनकर डा० मारिया विदोली तो बड़ी शान्त सी लग रही थीं। लेकिन वह दूसरी महिला एकाएक बड़ी गम्भीर लगने लगी थी। अपने माथे पर सिलवट लिये बोली :

''दूसरा अन्तर क्या है ?''

"मैंने ओल्ड तथा न्यू दोनों टेस्टामेंट पढ़ा है। उस आधार पर कह रहा हूँ। फिर भी यदि मैं गलत कह रहा होऊँ तो आप तुरन्त टोकियेगा, ताकि मैं अपनी धारणाओं में संशोधन कर लूँ।

दूसरा अन्तर यह है कि कृष्ण ने एक कल्ट दिया है। उपासना की एक संपूर्ण पद्धति दी है। क्या खाना है, क्या नहीं खाना है, क्या करना है, क्या नहीं करना है, कैसे जागना है, कैसे सोना है-कृष्ण ने जीवन की इन छोटी-से -छोटी बातों तक का बड़ा सिलसिलेवार ब्यौरा दिया है। क्षमा कीजिएगा, जीसस से हमें उपासना की कोई पद्धति नहीं मिल पायी। वे देते, जरूर देते ; लेकिन लगता है उन्हें समय नहीं मिल पाया। तब तक वे गिरफ्तार हो चुके थे।"

मेरी इन बातों से डा० विदोली के कमरे में बेहद सन्नाटा छा गया। लेकिन कमाल की थी वह विदेशी युवती। उस समय उसका सुन्दर चेहरा कठोर पड़ गया था। वह बड़े तीखेपन से बोली -

"और तीसरा ?"

"मादाम, आपने कुंडलिनी-शक्ति का नाम अवश्य सुना होगा और शरीरस्थ चक्रों को भी जानती होंगी। अंग्रेजी में इस विषय पर सरजॉन उड्रफ की 'दिसर्पेण्टर पॉवर' बड़ी मशहूर किताब है। भारतीय धर्मदर्शन में आपकी यह गहरी रुचि इस बात की चुगली करती है कि वह पुस्तक आपसे अछूती न होगी।

कृष्ण के जीवन में व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक तौर पर भी कुंडलिनी जागरण के अनेक उल्लेख हैं। वे किसी भी व्यक्ति की कुंडलिनी को वांछित चक्र में उठाकर रखने में पूर्ण समर्थ थे; जब कि जीसस के जीवन में ऐसा एक भी उल्लेख नहीं है।"

बाबा ! मेरा अन्तिम वाक्य अभी पूरा ही हुआ था कि उस यूरोपियन महिला का अत्यन्त गौर चेहरा क्रोध से लाल हो गया।

मुझे आग्नेय नेत्रों से देखती हुई वह झपट कर उठी और बिना कुछ बोले, तमककर उस कमरे से बाहर निकल गयी।

बाबा संमोहानन्द के साथ अन्य सभी लोग मुझे बड़े निश्चल भाव से सुन रहे थे; लेकिन उस दुर्घटना के स्मरण तथा उसके उल्लेख से मेरा चित्त अशान्त हो गया था। मैंने बाबा की ओर देखते हुए कहा–

"बाबा! उस घटना के स्मरण से मेरा मन चंचल हो गया है। मेरा कोई दोष नहीं था; लेकिन उस स्थिति में उस युवती के उठकर चले जाने से मैं इस समय तक अपने को अपराधी मानता आ रहा हूँ।

बाबा! महारास की भूमिका के रूप में इतना कहकर अब मैं चुप होता हूँ और मेरा भी आपसे निवेदन है कि लीला के उस स्वरूप को आप इस प्रकार साफ कर दें कि मेरी यह अपराध-भावना भी सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाय।"

"नकछेद पण्डित! तुम्हारा कोई दोष नहीं था। उस महिला को इतनी जिद भी नहीं करनी चाहिए थी और किसी के प्रति उपहासपूर्ण हँसी तो अत्यन्त खराब बात है। तुमने तो आरम्भ में ही कह दिया था कि हम भारतीय जीसस क्राइस्ट को एक अवतारी पुरुष मानते हैं और वे सम्पूर्ण भगवत्ता से ओत-प्रोत हैं। अन्तर कहाँ नहीं है ? अवतारों के अलग-अलग मूड हैं! लेकिन वह तर्ककुशल पढ़ी-लिखी महिला बुरा मान गयी। हालाँकि बात वह भी वैसा ही कर रही थी। तिरस्कारपूर्ण हँसी! गलत बात है।

"नकछेद पण्डित! हम बड़े संकुचित लोग हैं। तर्क का आग्रह तो करते हैं; लेकिन झेल नहीं पाते। उस दुराग्रही महिला के सामने मैं तुम्हें सही मानता हूँ। अब अपना क्षोभ समाप्त कर लो।" इतना कहकर बाबा संमोहानन्द मेरी ओर देखकर हँसने लगे।

कुछ क्षण रुककर बाबा संमोहानन्द ने आगे कहा-

"अपनी गुह्य साधना-परम्परा जीसस क्राइस्ट को विदेशी नहीं मानती। बारह वर्ष की उम्र से लेकर तीस वर्ष तक वे विभिन्न साधना सोपानों पर संचरण कर रहे थे। वे भारत आये थे। गुह्य संप्रदाय काश्मीर तथा काशी दोनों ही स्थानों पर उनके निवास की चर्चा करता है। ये स्वयं को ईश्वर-पुत्र कहते हैं। वह ईश्वर कौन है ? जीसस क्राइस्ट यहूदी थे और यहूदी धर्म एक तान्त्रिक उपासना-पद्धति का विश्वासी है। तुम लोगों ने यहूदियों का प्रतीक देखा होगा। वह प्रतीक उनके झंडे पर भी अंकित है। वह वही सममित षट्कोण है जिसे तुम विनष्ट इन्द्रप्रस्थ के किले के द्वार पर देख सकते हो। वही नीलवर्ण और वही सिमिट्रिकल डिजाइन! उस प्रतीक को श्रीकृष्ण ने उस किले के प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण कराया था। इन्द्रप्रस्थ का वैभवपूर्ण किला तो खण्डहर हो गया है; लेकिन वह प्रतीक अभी भी पाँच हजार साल के बाद भी बड़ा शानदार लगता है। यहूदी धर्म का वह अत्यन्त पवित्र प्रतीक है।

और वह प्रतीक हेमवर्णी परमशिव का संकेताक्षर है। भारतीय तंत्र-साधक अजपाजप के समय अनाहत चक्र में उस षट्कोण यन्त्र पर स्वर्णाभ परमेश्वर का ध्यान किया करते हैं। 'शिवमहिम्न' में परमेश्वर के सारे गुण वर्णन वही है जो यहूदी धर्म में परमात्मा के हैं। लेकिन कड़ी टूट गयी है। बड़ी पुरानी बातें हैं। योजक कड़ियाँ अलग हो गयी हैं और हम लोग अलग हो गये हैं। कहीं अलगाव नहीं है। सब एक हैं!

किसी भी बाइबिल में जीसस के मूल बोल नहीं हैं। वे आरमेइक में थे। जीसस उस समय की प्रचलित बोली बोलते थे। ईसाइयत को कम-से-कम इस वाक्य पर पुनर्विचार तो करना ही चाहिए, जो सूली पर टँगे जीसस का अन्तिम वाक्य था-

अलोइ ,अलोइ ,लाम्मा सबहत्थनी

(aloi, aloi, lamma Sab ahtoni.)

इस वाक्य का अर्थ उतना ही नहीं है जितना लिया गया है। यह वाक्य जीसस क्राइस्ट के अस्तित्व का बड़ा गहरा संकेत है।

मतवाद हमें जोड़ते नहीं हैं, सदा विखण्डित करते हैं। वास्तव में प्रयोगधर्मा-धर्म ही धर्म है वही अध्यात्म है।''

इतना बोलकर बाबा संमोहानन्द चुप हो गये। उनके बोल बहुत सांकेतिक हो गये थे। वे कहीं गहरे में उतर गये थे।

कुछ क्षण चुप रहकर बाबा संमोहानन्द कहने लगे -

''श्रीकृष्ण लीला के चार स्वरूप हैं।उनकी चार श्रेणियाँ हैं - प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष तथा मानस-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और अचिन्त्य।

बकासुर वध आदि प्रत्यक्ष लीलाएँ हैं। इन लीलाओं को सभी ने अपनी भौतिक आँखों से देखा। पूतना तथा तृणावर्त वध आदि प्रत्यक्ष तथा मानस-प्रत्यक्ष हैं। चीरहरण तथा महारास, ब्रह्मा का मदमर्दन आदि मानस-प्रत्यक्ष लीलाएँ हैं। भगवान् व्यास ने योगस्थ होकर उन लीलाओं का दर्शन किया था। वे लीलाएँ किसी के द्वारा देखी नहीं गयी थीं । भगवान् व्यास के उल्लेख से उन लीलाओं का पता चलता है।

श्रीकृष्ण का वज्र रूप में परिणत होना तथा परम क्रोध भट्टारक महर्षि दुर्वासा की भोजन संतृप्ति, अर्जुन का विश्वरूप दर्शन आदि उनकी अचिन्त्य लीलाएँ हैं। ये लीलाएँ वाङ्-मनस से परे परम पुरुष की स्वभाव-लीलाएँ हैं। भगवान् व्यास उन गहन लीलाओं के एकमात्र साक्षी हैं।

महारास श्रीकृष्ण की विराट् लीला का एक लघु चलचित्र है। उनकी अनन्त काल व्यापी तथा शाश्वत लीला शरद पूर्णिमा के समय एक लघु कालखण्ड में जमुना के छोटे से तट पर अभिव्यक्त हो गयी थी।

भगवान् व्यास के अतिरिक्त देव, गन्धर्व आदि भी महारास के साक्षी हैं। उस प्रदेश पर श्रीकृष्ण के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए कामदेव पहले से ही उपस्थित होता है; लेकिन श्रीकृष्ण की रूप-राशि तथा उनकी मोहक मुस्कान से विद्ध होकर मूर्च्छित हो जाता है। कामदेव के गण उसे उठाकर उस प्रदेश से बाहर ले जाते हैं। वह ऐसा प्रदेश है जहाँ काम का प्रवेश नहीं है। वहाँ पहुँचकर उसके अंग शिथिल पड़ने लगते हैं, उस पर बेहोशी तारी होने लगती है और उसी स्थिति में वह रासमण्डल से बहिष्कृत कर दिया जाता है। कामदेव रासमण्डल का बहिष्कृत देवता है। रासमण्डल कामातीत मण्डल है। रासमण्डल सृष्टि विक्षोभ का पूर्ववर्ती मण्डल है। कामदेव की दुनिया सुख-दुःख की दुनियाँ है। कामदेव का जगत् हर्ष-विषाद का जगत् है। काम ही सृष्टि है, काम ही परिवर्तन है, काम ही दिक्काल है। सारा विश्व काम का विस्तार है। लेकिन रासमण्डल ? रासमण्डल मानस-प्रत्यक्ष आनन्द मण्डल है। वह मानस-प्रत्यक्ष दिक्काल है।

दुनियाँ में विचारों की कौंध सुनी जाती हैं। किसी को कोई विशेष ज्ञान कौंध जाता है। विज्ञान वेत्ताओं, कवियों तथा कलाकारों में विभिन्न प्रतिभाओं का जागरण होता है। एक चमक, एक अनुभूत क्लिक होती है। जैसे बिजली चमकी, सब कुछ दिखा , फिर सब कुछ गायब।

महारास एक सतत कौंध है। महारास एक समयातीत आनन्दमय चमक है। महारास का अन्त नहीं है। महारास

नित्य है। महारास साक्षीभाव की पूर्णता है। महारास के बाद कुछ नहीं है।

श्रीकृष्ण का वंशी-निनाद निरन्तर हो रहा है। श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि-ऐसी नहीं है कि कुछ देर के लिये बजी, फिर रुक गयी। नहीं। चेतना के एक विशेष तल पर वह निरन्तर बज रही है। वह अशरीरी तल है। वह तल शरीर-तल से ऊपर है। रास-मण्डल पार्थिवतल से ऊपर है। इसीलिए रास-मण्डल में गोपियों की पार्थिव उपस्थिति का कोई अर्थ नहीं है। शरीरी गोपियाँ आ भी कहाँ पाती हैं ? वे तो रोक ली जाती हैं। वंशीगीत एक विशेष तल का गीत है, जो एक विशेष तल पर सुना जाता है; लेकिन रासमण्डल में पार्थिव शरीर का प्रवेश संभव नहीं है।

बात क्या है वंशीध्वनि किसी और को सुनाई नहीं पड़ती ? वह ध्वनि उस समय पुरुषों को सुनाई नहीं दे रही, बात क्या है ? क्योंकि उनका मन श्रीकृष्ण द्वारा गृहीत नहीं है। जिनके मन श्रीकृष्ण द्वारा नहीं पकड़े गये हैं, वे उस ध्वनि को नहीं सुन सकते। साथ ही श्रीकृष्ण ने हर गोपी को एकान्त में पहुँचने का समय दिया है। उस जगह अशरीरी गोपियाँ पहुँचती हैं और श्रीकृष्ण स्वयं को सहस्रशः विभक्त करते हैं, सम्पूर्णतः विभक्त करते हैं। फिर वहाँ अशरीरी गोपियाँ भी नहीं रह जातीं। क्योंकि हर गोपी साथ वाली गोपी को श्रीकृष्ण ही समझती है। रासमण्डल में होते हुए भी कोई गोपी नहीं है। एकमात्र कृष्ण ! एकमात्र कृष्ण !! एकमात्र कृष्ण !!!

'दि थर्ड आई ' का लेखक प्रसिद्ध लामा लोबसंग रम्पा लिखता है कि मैं स्वयं को अधिक से अधिक छः सम्पूर्ण भागों में विभक्त कर सकता हूँ। विभक्त करने के बाद भी लोगों की इच्छानुसार मैं उनकी सहायता नहीं कर सकता। सहायता करते-करते देर हो चुकती है और घटनाएँ घट जाती हैं। मैं मूक

दर्शक भर रह जाता हूँ। और यह श्रीकृष्ण कैसा है जो स्वयं को सहस्रशः विभक्त कर सकता है और लोगों की कामनाओं को तत्काल पूर्ण करता है ?

लामा लोबसंग रम्पा बड़ी कठिन साधनाओं से गुजर कर उस स्थिति तक पहुँचा है और श्री रम्पा की ऊँचाई बड़ी प्रशंसनीय है। यह बड़ी ऊँची उपलब्धि है। लेकिन कोई भी उपलब्धि किसी कामना का विस्तार है, कोई जाल है। लामा लोबसंग रम्पा इसीलिए किसी की तत्काल सहायता करने में अपने-आप को असमर्थ पा रहा है। काममय उपलब्धियाँ किसी व्यक्ति के कठिन श्रम की ओर इशारा करती हैं; लेकिन उच्चतर तलों में उनका प्रवेश नहीं हो पाता है। उनकी एक सीमा है। उन्हें रुकना पड़ता है। वे ठहर जाती हैं और उस व्यक्ति के अहंकार को वृद्धिंगत करने लगती हैं। बड़ा जोखिम है। उपलब्धियाँ बड़ा संकट पैदा करती हैं।

श्रीकृष्ण निष्काम हैं। वे कामेश्वर हैं। काम उनका पुत्र है। वे प्रद्युम्न के पिता हैं। शरीरधारी काम प्रद्युम्न उनका बेटा है। कुछ समय के लिए श्रीकृष्ण ने उसे दृश्य बनाया है। वह फिर अनंग हो जायेगा। श्रीकृष्ण के आनन्दमय लोक में कामदेव का प्रवेश नहीं है।

भगवान् व्यास ने मानस-प्रत्यक्ष लीला महारास के वर्णन में स्त्री-पुरुष के संभोग की शब्दावली का प्रयोग किया है। महारास स्त्री-पुरुष के संभोग का खुला वर्णन है। क्योंकि संभोग ही आनन्दमय लोक का तात्कालिक अभिव्यक्त सोपान है। यह सोपान इसलिए अभिव्यक्त हुआ है ताकि इस पर पैर रखा जाय, ऊर्ध्ववर्ती मण्डल में प्रवेश किया जाय और गगनगुफा से झरते हुए अजर रस-स्रोत में निमग्न हुआ जाय।

महारास की समूची शब्दावली एक कूट-शब्दावली है। उस शब्दावली का प्रयोग इसलिए हुआ है, क्योंकि जिसे अभिव्यक्त करना है वह उसी शब्दावली से अभिव्यक्त होगा। डाक्टर क्या उस अंग-विशेष का नाम नहीं लेते जिसका आपरेशन करना होता है ? अगर आपरेशन करना है तो नाम लेना ही है। फिर उस समय सुनने वाले के मन में भी कोई विक्षोभ नहीं है, चिकित्सक के मन में भी कोई विक्षोभ नहीं है। वह चिकित्सक उस व्यक्ति को एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक ले जाने की तैयारी कर रहा है। उस आपरेशन का सारा जमघट रोगमुक्ति के लिए है। उस आयोजन का सारा नंगापन नंगेपन से मुक्त करने की एक प्रक्रिया है। महारास के अन्त में भगवान् व्यास ने इसीलिए कहा है कि यह सारा वर्णन कामापनोदन के लिए है! इसके पढ़ने-सुनने से काम-बीज दग्ध हो जाता है। दग्ध-बीज में अंकुर नहीं फूटते।

दरअसल हम 'रास पंचाध्यायी' को ध्यान से पढ़ते-सुनते कहाँ हैं ? जिस कीमियागिरी का वहाँ प्रयोग हुआ है उसे समझने की हम कोशिश कहाँ करते हैं ? नतीजा कुछ नहीं निकलता। श्रीकृष्ण ठीक से समझ में नहीं आते। अबूझ स्थितियों के चलते सारी दुनियाँ चटखारा मार रही है, जो एक भद्दी रुचि का परिचायक है। वस्त्रापहरण तथा महारास साधना के विभिन्न सोपान हैं। उन स्थलों की कूट शब्दावली भारतीय तन्त्र की कूट शब्दावली है। वे सारे वर्णन निष्काम चेतना के अभिव्यंजक हैं। निष्काम चेतना को शब्दों से नहीं समझा जा सकता। क्योंकि निष्काम चेतना एक स्थिति है, एक तल है, एक अवस्था है।

श्रीकृष्ण के वंशीनाद से, उस अनाहत ध्वनि से शरीरस्थ काम मूर्च्छित होने लगता है। और शरीर चेतना का उपरिवर्ती तल से सम्पर्क होने लगता है। कालक्रम से श्रीकृष्ण चेतना का, उस दिव्य

चेतना का अवतरण होता है और उसके स्पर्श से देह-दाह का शमन हो जाता है। सुप्त तथा गुप्त शक्ति ऊपर उठने लगती है और व्यक्ति की चेतना में वास्तविक प्रेम का उदय हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि कोई असली पण्डित तब होता है जब उसके भीतर वास्तविक प्रेम का जन्म होता है।

उस प्रेमोदय के पूर्व सब नाममात्र के पण्डित हैं। कबीर साहब के शब्दों में-

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ ,पण्डित भया न कोय। '

विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन करने से नाना प्रकार की सूचनाओं का संग्रह भर होता है। कोई सुपर कम्प्यूटर हो सकता है; लेकिन कम्प्यूटर होना कोई पण्डिताई नहीं है।

कबीर साहब कहते हैं कि पोथी पढ़ते-पढ़ते सारी दुनियाँ समाप्त हो गयी, पण्डित बनने के फेर में सारे लोग मर गये, मर रहे हैं, और मरेंगे; लेकिन पण्डित नहीं बन पाये, नहीं बन पायेंगे। क्योंकि पण्डित बनने का वह मार्ग हीं नहीं है। सृष्टि का इतना लम्बा कालखण्ड बीत गया लेकिन पोथी पढ़कर आज तक कोई पण्डित नहीं हुआ। पोथी पढ़ना और पण्डित बनने की आशा करना ठीक वैसा ही है जैसे कैथ का पेड़ लगाकर आम तोड़ने की आशा करना। इसी आशा में सबके सब समाप्त हो गये, पण्डित नहीं बन पाये। दरअसल आज तक हम पण्डित बनने का रास्ता गलत चुनते आये हैं। वास्तविक प्रेम के उदय का हमने कभी प्रयास नहीं किया। मस्तिष्क में दुनियाँ भर की सूचनाएँ भर गयीं। सारा जीवन व्यर्थ गया। जीवन की प्रवहमान नदी इसी तरह सूख गयी और जीवन एक कूड़े के ढेर में बदल गया। मीराबाई ने कहीं कहा है कि, हे राणा ! तेरे राज्य में- लोग बसें सब कूड़ो। कूड़ा !

तुम अपने को धन्य समझते हो। पद, नाम, यश, विद्या, धन आदि पाकर तुम अपने को जगजयी गामा समझ रहे हो। लेकिन मीरा कहती है : कूड़ा तुम कूड़े के एक ढेर हो। चलते-फिरते कूड़े के ढेर। कबीर साहब कहते हैं कि तुम स्वयं को काबिल मत समझना; क्योंकि तुम किताबों के जंगल में भटक गये हो। मारे-मारे फिरते रहे हो। प्यास से तुम्हारा गला सूख गया है; लेकिन तुम्हें अभी भी समझ नहीं आ रही। किस मृगतृष्णा में फँसे हो ? पण्डित बनने का भाव तो तुम्हारे भीतर बहुत अच्छा जगा है, लेकिन तुम भटक गये हो। तुम प्रेमाक्षर पढ़ो। प्रेम का एक अक्षर ! और तुम्हारा संताप मिट जायेगा, तुम पण्डित हो जाओगे। थोड़ा भीतर झाँको।बाहर की ओर एक खारेमहासागर का विराट् फैलाव है। उर्दू के एक बड़े शायर 'मीर' ने यह गलत नहीं कहा है-

'धोखा है तमाम बहरे दुनिया।

देखेगा पै होंठ तर न होगा।।'

इस भव-सागर में तुम जितना धँसोगे, तुम्हारी अतृप्ति बढ़ती ही चली जायेगी;

क्योंकि इस समुद्र के सारे तट विलक्षण खारे हैं। उस महाप्रेम का उदय होने पर महातर्क, अखण्ड विवेक तथा विशुद्ध ज्ञान का जन्म होता है। रास-मण्डल वही प्रेमोदय है। ऊपरी तल के सम्पर्क से, दिव्य तल के स्पर्श से शरीरस्थ काम, सेक्स-ऊर्जा, परिशुद्ध होकर वास्तविक प्रेम में परिणत हो जाती है। वैसा होने पर हमारा फिर से जन्म होता है। हम द्विज हो जाते हैं।

पहले वंशी सुननी होगी, फिर महारास और अच्छी तरह समझ में आयेगा। महारास परिशुद्ध काम की व्यंजक अवस्था का नाम है। वह दिव्य प्रेम अभिव्यंजना है। उसी महाप्रेम में निमग्न तथा

भावाकुल होकर नवाबी शानो-शौकत का परित्याग करते हुऐ ताजबीबी ने कहा था-

'हौं तो मुगलानी हिन्दुवानी छै रहूँगी मैं।'

और रसखान काग के सौभाग्य की सराहना करते हुए उसी प्रेमसागर तथा छवि-समुद्र को निहारते हुए थक नहीं रहे हैं-

'वा छवि को 'रसखान' बिलोकत वारत कामकलाविधि कोटी।

काग के भाग कहा सजनी हरि हाथ सों ले गयो माखन-रोटी।।'

एक बार भी दिल से जो श्रीकृष्ण को पुकारता है, परमकृपालु श्रीकृष्ण उसे सदा-सदा के लिए पकड़ लेते हैं। श्रीकृष्ण ही जय हैं, श्रीकृष्ण ही विनय हैं, श्रीकृष्ण ही सर्वमंगल हैं।''

**

उस दिन मैं बाबा संमोहानन्द के पास एक बजे पहुँचा। मेरी वापसी को ध्यान में रखते हुए उन्होंने मुझे उस दिन अपराह्न एक से दो तथा सायँ पाँच के बाद का समय दिया था।

'नकछेद पण्डित!' मेरी यहाँ पहुँचने की कहानी बड़ी विचित्र है। तुम्हें तो सूबा सिंह से स्थान का निर्देश हो गया था; लेकिन मेरी गुरु ने यहाँ पहुँचने का मुझे बड़ा अस्पष्ट संकेत दिया था। बहुत पहले की बात है, तब मैं फणीश की ही तरह सबलत था जवान हो रहा था। गरु से पहली भेंट के समय मैं मुश्किल से छब्बीस का रहा होऊँगा। एक जमाना हो गया।

उस समय मैं गुजरात में था। प्राचीन प्रभास क्षेत्र।

मेरी गुरु ने मुझसे बस इतना ही कहा था कि कालान्तर में तुम्हारी भेंट एक विलक्षण व्यक्ति से होगी। वर्तमान समय में भारत के उत्तरी क्षेत्र में वे सूर्य-विज्ञान के अवस्थान हैं। आजकल वे गुप्त रूप से एक साधारण से ग्रामीण के रूप में एक गाँव में रहते हैं। वह गाँव बनारस से उत्तर-पूर्व की ओर लगभग 150 मील दूर है। समय पाकर तुम वहाँ कभी अनायास ही पहुँचोगे और उनकी देहकान्ति से तुम उन्हें तुरन्त पहचान लोगे।

गुरु के निर्देश पर एक विशेष समय पर मैंने अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया था और उन्हीं की आज्ञा से पूरे भारत में भ्रमण करता हुआ अपने-आपको अत्यन्त गुप्त रूप से संवर्धित करता रहा। उस समय मेरे पास धन की कोई कमी नहीं रह गयी थी। गुरु द्वारा निर्दिष्ट एक विशिष्ट प्रक्रिया के चलते मेरे पास लाखों रुपये जमा हो गये थे। सस्ती के जमाने में लाखों रुपये सायंकाल की भेंट में उसकी चर्चा करूँगा।

इस बात के बावजूद कि किसी व्यक्ति को समझने के लिए मुझे किसी भाषा की आवश्यकता नहीं है, उसके सामीप्य की भी जरूरत नहीं है-मैं अपने देश की सारी भाषाएँ जानता हूँ। ये सारी भाषाएँ मेरे पास बड़े सहज ढंग से आती चली गयीं। मेरा भारत भ्रमण बड़ा उद्देश्यपूर्ण था। गुरु द्वारा प्रदत्त मेरी विद्या एक प्रयोगनिष्ठ विद्या है। मेरी गुरु ने केवल एक रात में ही अत्यन्त स्नेह से अपनी अहेतुकी कृपा का प्रदर्शन करते हुए मेरे भीतर उस विद्या के बीज स्थापित कर दिये थे। बीज रूप में प्राप्त उस विद्या का मैं वर्षों-वर्षों तक संवर्धन करता रहा और कालान्तर में वह रहस्यविद्या मेरे भीतर अपने-आप प्रकट होती चली गयी। उसकी प्रयोग धर्मिता के कारण मैं सम्पूर्ण भारत में भ्रमण करता रहा। एक बार मैं हिंगलाज देवी का दर्शन करने अफगानिस्तान चला गया था।

समूचे भारत में मुझसे जुड़ने वालों की संख्या बहुत बड़ी है। तुम्हारी ही तरह वे लोग भी मुझसे बड़ा स्नेह करते हैं और उनका मानना है कि मुझसे मिलकर उनके जीवन में एक नयी खुशी तथा

उत्साह का संचार हुआ है। उनकी इस धारणा से मुझे अपने जीवन की सार्थकता का बराबर बोध होता रहता है। और इस बात से परम सन्तोष मिलता है कि मैं गुरु-निर्देश का ठीक-ठीक अनुसरण कर रहा हूँ।

जिन दिनों मैं बम्बई में था उन दिनों नरगिस तथा सुरैया का बड़ा नाम था। बड़े-बड़े लोग मुझसे जुड़ रहे थे। वे अभिनेत्रियाँ भी मुझसे जुड़ गयी थीं। उन यवनी शक्तियों से मुझे अपनी प्रयोग-विद्या में बड़ी सहायता मिली थी। उनके उन्मुक्त सहयोग का मैं अभी तक आभार मानता हूँ।

नरगिस बड़ी चपल थी और सुरैया बड़ी गम्भीर। एक बार अपने आवास पर पहुँचते ही खिलन्दड़ी नरगिस पूछ बैठी-"बताइए बाबा, मैं मन में क्या सोच रही हूँ ?"

उसका प्रश्न अभी समाप्त नहीं हुआ कि मैंने उत्तर दिया- "यह गधे का ध्यान तुम्हारे मन में कैसे आया ?" नरगिस खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली -

"आपसे कुछ छिपता नहीं बाबा ! अच्छा बताइए इस बार किस नम्बर का घोड़ा जीतेगा ?"

नरगिस को रेस का बड़ा शौक था।

सुरैया बड़ी सुन्दर थी और उसके गले में इतनी मधुरता तथा तड़प थी कि मैं उसे सुर + आई, सुर की माँ अर्थात्-सुरस्वामिनी ही समझता था।

जब मैं कलकत्ते में होता तो मेरा सारा शरीर नंगा होता। कमर में बस एक पतली सी कौपीन बँधी होती! मेरे एक हाथ में पतला सा लौहदण्ड होता और दूसरे में व्याघ्र-मुँड! मैं कलकत्ते में मुंडिया के नाम से विख्यात था। धनाभिलाषियों का मेरे पास ताँता लगा रहता। शेयर, सट्टे तथा भावों के उतार-चढ़ाव का मैं अचूक वैद्य था। बम्बई में मेरा एक ठाट था और कलकत्ते में दूसरा। नकछेद पण्डित! मेरे माध्यम से लोगों ने अपार धनार्जन किया है।मेरी विद्या से वे सदा उपकृत रहे हैं। लेकिन वह एक काल-विशेष की बात रही है। अब मैं दूसरी स्थिति में हूँ और यहाँ रहते हुए कुछ अन्य प्रकार के निर्दिष्ट कार्य कर रहा हूँ।

बहुत पहले की बात है। एक बार ऐसे ही अपने भ्रमण के दौरान बनारस पहुँचकर मैंने भटनी जाने वाली गाड़ी पकड़ ली और भटनी से गोरखपुर के लिए रवाना हो गया। गोरखपुर की ओर जाते समय मैं अनायास ही यहाँ के स्टेशन पर उतर गया और इस गाँव की ओर बढ़ने लगा।

सावन का महीना था। गाँव को बढ़ते ही जोर की बारिश शुरू हो गयी। विचित्र बारिश। कुछ ही क्षणों में सारा इलाका जलमग्न होने लगा और मैं छाता ताने जल्दी-जल्दी इस गाँव की ओर बड़ी बेताबी से बढ़ने लगा। गाँव से पहले एक बड़ा विशाल वटवृक्ष है। तुमने आते समय देखा होगा। मैं बड़ी उतावली से उसी ओर बढ़ने लगा। एकाएक मेरी दृष्टि एक अत्यन्त देदीप्यमान व्यक्ति पर पड़ी। वे श्री भूदेव मिश्र थे। उत्तर भारत के सूर्य-विज्ञान के अवस्थान! मैंने उन्हें तुरन्त पहचान लिया। मुझे देखकर उनकी देहकांति दुगुनी हो गयी थी और वे मंद-मंद मुसकुरा रहे थे।

पण्डित भूदेव मिश्र से मेरी मुलाकात बड़ी भीषण बरसात में हुई थी। वहाँ वे मुझे लेने के लिए ही खड़े थे।

वे इसी गाँव के रहने वाले बड़े सम्पन्न व्यक्ति थे। लेकिन देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद गाँव से थोड़ा हटकर यहाँ इस स्थान पर उन्होंने अपना अलग आवास बनवा लिया था। वे सावित्री विद्या के मूर्तिमान् रूप थे। लाख छिपने पर भी वे नहीं छिप पाये। दूर-दूर से उनसे मिलने तथा प्रश्न करने के लिए लोग पहुँचते ही रहते थे। इस आवास के बाहर दीवाल पर बने हुए तुमने अनेक यन्त्र देखे होगे। इस कमरे की सामने वाली दीवालों पर भी कई यन्त्र बने हुए हैं। ये सारे यन्त्र पण्डित भूदेव मिश्र द्वारा दृष्ट मन्त्र है। उन्होंने इन यन्त्रों को बाद में बनवाया था। उन्होंने कुछ यन्त्र पत्थर पर भी उत्कीर्ण करवाये थे।

पण्डित भूदेव मिश्र के भीतर सावित्री-विद्या अवतीर्ण हुई थी।उस विद्या-प्राप्ति का उन्होंने बड़ा विलक्षण वर्णन किया था। उस समय मेरी उम्र तुमसे कुछ अधिक थी और वे साठ के ऊपर थे। लेकिन उनका शरीर तपाये हुए सोने की तरह कांतिमान था और वे पतले छरहरे बड़े सुन्दर व्यक्ति थे। उनकी आँखें अपेक्षा से बड़ी-बड़ी तथा मोतियों की कांति से भरी हुई थीं। उन्होंने स्वयं को छिपाकर रखने की बड़ी कोशिश की थी। लेकिन सूर्य भी कहीं छिपता है ? वे भूदेव थे- पृथ्वी पर चलने-फिरने वाले एक अलौकिक आभा सम्पन्न महात्मा ! उनकी वाणी बड़ी बेफिक्र थी और उनके सामीप्य में ऐसा लगता था जैसे समय ठहर गया है। उस रहस्य-विद्या का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया था -

"मेरा मूल नाम ताराशंकर मिश्र है। भूदेव मिश्र गुरु-प्रदत्त नाम है। मैं ब्रिटिश हुकूमत का बागी रहा हूँ। हाईस्कूल के बाद मैंने पढ़ाई छोड़ दी थी और मैं इस ओर का स्वतंत्रता सेनानियों का प्रमुख बन गया था। गाजीपुर जिल्ले में अंग्रेजों द्वारा संचालित अफीम की कोठी थी। समीप ही गंगा बहती हैं। उस गंगा तट पर मैंने अनेक अंग्रेजों का वध किया था। किसी अंग्रेज को देखते ही मेरे भीतर भगवान् परशुराम का आवेश हो जाता और मेरे हाथ का फेंका हुआ छुरा उसके हृदय के आर-पार नहीं उसकी गर्दन के आर-पार होता। वह रुककर नहीं, तत्काल मरता। उसकी गर्दन से अपना फेंका हुआ छुरा मैं झपटकर निकालता, उसके वस्त्रों पर रगड़कर अच्छी तरह साफ कर लेता और फिर मैं यह आया और वह गया।

भारत और भारतीयों के प्रति घोर अवज्ञा का भाव रखने वाले उन आततताइयों के प्रति मेरे मन में रंचमात्र भी दया का भाव नहीं था। वे दिखे, मैंने निशाना साधा और फिर नौ दो ग्यारह। मेरी खोपड़ी पर बड़ा इनाम था; लेंकिन ब्रिटिश हुकूमत मुझे कभी नहीं पकड़ पायी।

उन दिनों मैं बनारस में छिपकर रह रहा था और बड़ी सतर्कता से वेष बदलकर लहुराबीर के गायत्री मन्दिर तक पहुँचता था।

एक दिन ऐसे ही माँ गायत्री का दर्शन करके जब मैं सीढ़ियाँ उतरने लगा तो एक संन्यासी -से लगने वाले व्यक्ति ने मुझे हाथ के इशारे से रोककर कहा-

"तुम्हारी गायत्री में बड़ी भक्ति है। यह एक अच्छी बात है। गायत्री के रहस्यात्मक स्वरूप को जानना हो तो मेरे पीछे-पीछे चले आओ।"

इतना कहकर वे सज्जन मेरी ओर बिना देखे मुड़ गये और आगे बढ़ने लगे। सदा संकटों से खेलने वाला मैं अनायास ही उनकें पीछे-पीछे चलने लगा। वे निःशब्द बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहे थे और मैं उनके पीछे-पीछे खिंचा हुआ सा चला जा रहा था। मुझे स्मरण है कि उस समय मेरी स्वतंत्र तर्क-बुद्धि अवरुद्ध हो गयी थी और मैं बस उनका अनुसरण करता हुआ उनके पीछे-पीछे लगा हुआ चला जा रहा था। आज जहाँ पासी स्टूडियो है,उसकी बगल वाली गली में होकर वे आगे बढ़ते जा रहे थे और मैं उनका अनुगमन कर रहा था। इसी प्रकार उस समय के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के सरस्वती भवन के सामने वाले मार्ग पर चलते हुए वे जी०टी० रोड पर पहुँच गये। फिर सड़क पार करके वे एक पेड़ के पास निर्मित एक बड़े से कमरे के पास पहुँचे और उसका दरवाजा खोलने लगे। मैं उनके पीछे-पीछे लगा हुआ था।

वह कमरा पहले से ही आलोकित था और बड़ा भव्य था। उसकी दीवारें पेन्टेड थीं और उन पर विभिन्न नयनाभिराम दृश्य अंकित किये गये थे। एक ओर सुगन्धित अगरबत्तियाँ जल रही थीं और उनके ऊपर प्रकाश का एक इन्द्रधनुषी प्रकाश सा फैला था। उस प्रकाश में अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में उमा सहित भगवान् शिव की एक हाथ लम्बी स्फटिक की मूर्ति एक रत्न-जटित सिंहासन पर विराजमान थी।

चारों ओर बड़े ढंग से नाना प्रकार की पुस्तकें रखी हुई थीं। एक ओर एक बड़ी भव्य पलंग बिछी हुई थी। पलंग के ऊपर लाल

वितान सा तना हुआ था और पलंग के पास रत्नजटित पादपीठ रखा हुआ था। एक छोटी सी मणिमय चौकी पर स्वर्ण तथा विभिन्न रत्नपात्रों में ताजे फल तथा खाने की चीजें रखी हुई थीं। पास में कुछ गिलास रखे थे तथा एक बड़ी सुराही सी दिख रही थी। वे सभी रत्नजटित थे। सारा कमरा विविध सुगन्धों तथा विभिन्न वर्णों से जगमगा रहा था। ऐसा लगता जैसे मैं इन्द्र-भवन में पहुँच गया हूँ।

तब तक मेरे गुरु मेरी चारों ओर घूमती हुई कौतूहलपूर्ण दृष्टि को देखते हुए एक रत्नजटित चौकी पर बैठ चुके थे। उस चौकी पर बड़ी मनोहर लाल मखमल बिछी हुई थी।

चौकी के सामने एक छोटी सी आसन्दी पर एक आसन बिछा हुआ था जिसमें सोंने के तारों से जालियाँ बनी हुई थीं और जिसके चारों किनारों से देदीप्यमान बड़े-बड़े मोती लटक रहे थे। उन्होंने मुझे उस आसन पर अभिमंत्रित जल छिड़कते हुए बैठने का संकेत किया। और ओढ़ने के लिए अपनी बगल में रखा हुआ एक स्वर्णाभ रेशमी दुपट्टा दिया। मेरे माथे पर उन्होंने अत्यन्त सुगन्धित चन्दन का टीका लगाया और मेरे शरीर पर किसी दिव्य इत्र का छिड़काव किया।

तत्पश्चात् उन्होंने मुझे एक रत्नजटित गिलास में कुछ पीने को दिया। उस पेय को लेने के बाद मुझमें अद्भुत ताज़गी आ गयी और मेरा मस्तिष्क अत्यन्त सक्रिय हो गया।

उस स्थिति में मेरी ओर अत्यन्त स्निग्ध दृष्टि से देखते हुए उन्होंने मुझे सावित्री-विद्या का उपदेश किया और बड़ी देर तक मन्त्रार्थ को स्पष्ट करते रहे। उस समय मैंने उन्हें गौर से देखा।

वे अत्यन्त तेजस्वी महापुरुष थे। उनकी आँखें खिले हुए कमल की तरह विशाल थी और उनके होंठ बेहद लाल थे। वे स्वर्णिम परिधान धारण किये हुए थे। और अपने दाहिने हाथ की अँगुलियों में अनेक रत्नों की अँगूठियाँ पहने हुए थे। उस समय वे अपने सौन्दर्य तथा शारीरिक गठन से कामदेव को मांत कर रहे थे। दरअसल आते समय मैंने उन्हें ठीक से देखा ही कहाँ था।

इष्ट मन्त्र देते समय उन्होंने मुझे अपना मुँह खोलने को कहा। जिस समय उन्होंने उस मंत्र का उच्चारण किया, एक पीली सी आभा उनके मुख से निकली और मेरे खुले हुए मुख में प्रविष्ट हो गयी। उस ज्योति के प्रविष्ट होते ही मेरे शरीर की कांति कई गुना बढ़ गयी। मेरी सारी देह एकदम निश्चल हो गयी। मेरी आँखें निर्निमेष दृष्टि से देखने लगीं और मेरे शरीर में रह-रहकर उष्णता तथा ठंड की लहरें उठने लगीं और उनका दिया हुआ मंत्र मेरे प्राणों में भर गया। मेरी साँसों में अजपा जाप सा चलने लगा और उनके चेहरे के आगे समुद्रवसना तथा पर्वत-स्तन मण्डला यह पृथ्वी चक्कर काटने लगी। कुछ ही क्षणों बाद मेरी आँखों के सामने एक अत्यन्त तीव्र प्रकाश फैल गया। मेरी आँखें अपने-आप मुँद गयीं और मैं पत्थर की तरह निश्चेष्ट हो गया।

मै कह नहीं सकता कि कितनी देर तक मैं उस स्थिति में पड़ा रहा। बाद में एक कोई शब्द सा हुआ और मैंने अपनी आँखें खोल दीं। पीठासीन गुरु सामने ही विराजमान थे। वे बड़े प्रसन्न लग रहे थे। उनका चेहरा संतुष्ट स्मिति से सराबोर था। वे बोलने लगे-

"मैं तुम्हे बहुत दिनों से देख रहा था। महिमामयी गायत्री में तुम्हारी दृढ़ आस्था है। तुम अधिकारी हो। तुम्हें आज एक दुर्लभ विद्या मिली है। इस ग्रह पर एक साथ इस विद्या के केवल पाँच विशेषज्ञ ही निवास कर पाते हैं। तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। आज

तुम्हें वह अक्षय विद्या संक्रमित हुई है, जो किसी व्यक्ति को उसके अन्तिम जन्म में मिलती है। यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है। आजसे तुम ताराशंकर नहीं भूदेव हो। भूदेव मिश्र। मैं तुम्हें यह नया नाम देता हूँ।

तुम्हारी दृढ़ काया ने इस विद्या को अनायास सँभाल लिया है, उससे मैं बहुत प्रसन्न तथा संतुष्ट हूँ। इस विद्या का रात के तीसरे पहर में उठकर अभ्यास करना और प्रतिदिन इष्टमन्त्र का दशांश हवन करना। समय आने पर सम्पूर्ण सावित्री तत्त्व तुम्हें स्वतः स्पष्ट हो जायेगा ; लेकिन अगली पूर्णिमा को तुम फिर आना। आज चैत्र पूर्णिमा है। वैशाख पूर्णिमा के दिन मैं तुमसे यहीं पर इसी समय फिर मिलूँगा।''

तत्पश्चात् उन्होंने मुझे अत्यन्त स्वादिष्ट व्यंजन खिलाये। सुराही से स्फूर्तिमय पेय पीने को दिया और एक ऐसी ताम्बूल वीटिका खाने को दी जिस पर सोने का वरक चढ़ा हुआ था तथा जिसके भीतर मोती भस्म की एक प्रामाणिक मात्रा मौजूद थी। उस पान को खाते ही मुझे विचित्र आनन्दमय शीतलता का बोध हुआ।

विदा होते समय मैंने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और उनके कोमल चरणों को भाव-विह्वल होकर अपने आँसुओं से भिगोने लगा।

लेकिन मेरे दुर्भाग्य देखिए। उन ऊधमी तथा जान लेवा कार्यों में लिप्त होने के कारण मुझे समय की सुध न रही। एक दिन

एकाएक जब मुझे ख्याल आया तो पूर्णिमा कभी की बीत चुकी थी। वैशाख पूर्णिमा को बीते पन्द्रह दिन बीत चुके थे। मैंने अपना होशो-हवास खो दिया और टिकट कटाकर बनारस जाने वाली पहली गाड़ी से रवाना हो गया।

रेलवे स्टेशन से उतरकर चौकाघाट के पुल के नीचे से गुजरते हुए मैं बड़ी सतर्क दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा। अँधेरा उतर आया था। मैं टार्च की रोशनी फैला-फैलाकर उस कमरे की तलाश करने लगा। सड़क के उस पार दूध वाले किसी सरदार के घर में हल्की-फुल्की रोशनी हो रही थी और बगल में एक बाड़दार जगह में लकड़ियों की एक बहुत बड़ी टाल थी। उसके भीतर बैठे हुए लोग आपस में गप-शप कर रहे थे। चारों ओर मद्धिम सी रोशनी फैली हुई थी।

टार्च की रोशनी में मैं उस कमरे को तलाश कर रहा था, जो ठीक एक पेड़ के बगल में था। दूर-दूर पर वहाँ पेड़ तो कई दिख रहे थे; लेकिन उस कमरे का नामो-निशान तक नहीं था। मैं टार्च जलाये दूर-दूर तक निकल जाता था और फिर उस स्थान पर लौटता था, जहाँ सरस्वती भवन से आने वाला मार्ग जी०टी० रोड से आकर जुड़ता था। मेरा भूगोल एकदम सही था। लेकिन उस कमरे का कोई अता-पता नहीं था। आखिर वह कमरा गया कहाँ ?

अपनी साइकिल पर दोनों ओर दूध का डब्बा लटकाये तथा तेजी से जा रहे एक दूध वाले को रोककर जब मैंने उससे उस कमरे के विषय में जिज्ञासा की तो वह बोला- "नाहीं साहब हम्मे यहि रस्ता से आवत-जात पन्द्रहिन बरिस होईगै। एहि साइड में तो हम कवनो कमरा नाहीं देखा सरकार !"

उस कमरे की बाबत एक धुँआती बत्ती लेकर घूमने वाला एक चाट-विक्रेता बोला– "लगत हौ साहब कहीं बाहर से आये हैं। एह पेड़ के लग्गेंक़ब्बौं कौनों कमरा नाहीं रहा साहब !"

हार मानकर सड़क के उस पार जाकर बाड़ वाले लोगों से मैंने पूछताछ शुरू की। कमरे की बात सुनकर वे लोग बड़े जोर से हँसने लगे। एक सज्जन बनारसी में बोले –

"का मालिक, दिमाग त. ठीक हौ। इहाँ रहत हमें पचीस बरस हो गयल। तू कौने कमरा के बात करत हउआ ? तनि माफ करिय, भांग त नाहीं खइले हउअ। का गुरू ,ई सरकार का कहत हउएँ ? ई कि वह पेड़ के लगे एक ठे बड़ा सुन्दर कमरा रहा। उहाँ एक ठे महात्मा रहत रहेन और ई राजा साहब, वह कमरा में कई घंटा तक कुछ खात-पियत रहेन । सरकार इहाँ कौनो कमरा-वमरा नाहीं रहा। आप से जरूर कौनो भूल भयल हौ।

सरकार का कहीं अन्ते से आवत हुएन ?" इतना बोलकर बनारसी स्वभावानुसार वे सज्जन फिर मुस्कराने लगे थे और साथ के अन्य लोगों की रुकी हुई हँसी फिर खुल गई थी।

तू से आप तथा आप से तू तक पहुँचना एक खास बनारसी शैली है।

मैं उन्हें क्या उत्तर देता ! विक्षिप्त सा वापस लौटा। मेरी संज्ञा लुप्त हो गयी थी। मैं उस अँधेरे जी०टी० रोड पर आगे बढ़ता जा रहा था और रोता जा रहा था। ओह ! करुणामय गुरु ने कृपापूर्वक एक उपयुक्त समय दिया था और मैं इतना ढीठ निकला कि समय का ख्याल नहीं रख पाया। तुम्हें धिक्कार है तारा शंकर ! कहाँ ढूँढ़ोगे उन्हें-कोई पता तो हो ! मैंने मंजिलों पर मंजिले पार की

थी; लेकिन वैसा हताश कभी नहीं हुआ था। उस भयंकर भूल को सुधारना मेरे वश में नहीं था। क्षोभ तथा सन्ताप से मेरी आत्मा की जड़ें हिल रही थीं। मैं भाग्यवान अभागा था! पुल के ऊपर से गुजरती हुई गाड़ी की खड़-खड़ बड़ी खराब लग रही थी।

उन महान् गुरु से मेरी भेंट फिर कभी नहीं हुई। अपनी विद्या संक्रमित करके शायद वे चले गये थे।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद मैं यहाँ एकान्त में आवास बनवाकर गुरु-प्रदत्त विद्या का भरसक अभ्यास करने लगा। मेरी नींद रात में दो बजे के आस-पास स्वतः खुलने लगी। सूर्योदय के पहले ही मैं जप तथा हवन का कार्य पूर्ण कर लेता तथा व्रतस्थ रहकर दिन का सारा समय व्यतीत करता और हर समय मैं उस विद्या का अनुचिन्तन करता रहता। मेरा संस्कृत का ज्ञान अत्यल्प है; लेकिन कुछ ही दिनों बाद यह ध्यान के समय मुझे वैदिक मन्त्र दिखायी पड़ने लगे। मैं उन्हें लिख लेता था और बाद में उनकी पुष्टि करता तथा उनका अर्थानुसंधान करता था। इसी प्रकार मुझे विभिन्न यन्त्र दिखाई पड़ने लगे। फिर कालान्तर में यंत्रस्थ देवगण भी स्पष्ट होने लगे। मेरे भीतर अनायास ही विविध मंत्रों के अर्थ स्पष्ट होने शुरू हुए तथा नाना प्रकार के मंत्रों का रहस्य खुलने लगा।

सावित्री विद्या सृष्टि-विद्या है। इस विद्या से सृष्टि के सारे रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगते हैं। साधक में रूपान्तरण की क्षमता का विकास होने लगता है और वह चाहे तो इच्छानुसार

भूगोल में परिवर्तन कर सकता है। एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु में रूपान्तरित करने की एक विचित्र संकल्पशक्ति का उसके भीतर उदय हो जाता है।

संमोहानन्द जी, सब कुछ तो प्रकाश का ही खेल है। एक ही प्रकाश अनंत अनुपातों में संघनित होकर अनेकविध लोकों की रचना करता है। शक्ति के साहचर्य से वह अद्वितीय प्रकाश पुरुष सम्पूर्ण विश्व में नर्तन कर रहा है। शक्ति सहित वह अनादि अनन्त पुरुष इस विश्वरूप में भासित होता है। और निरन्तर रूपान्तरित होता रहता है। जो व्यक्ति दो रूपान्तरणों के बीच स्थित होने की शक्ति अर्जित कर लेता है वह रूपान्तरण के रहस्य को समझ लेता है और फिर वह अमृत में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है। फिर उसका जन्म नहीं होता है। वह द्विजन्मा मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है।

नकछेद पण्डित! तीन वर्ष पहले पूज्य भूदेव मिश्र द्वारा भेजा हुआ एक व्यक्ति मेरे पास अकस्मात् पहुँचा। उस समय मैं बम्बई में था और उनसे मिलने के लिए वहाँ से लौटने ही वाला था। उस व्यक्ति से मुझे मालूम हुआ कि वे मेरी बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे और प्रायः समाधि भाव में ही रह रहे थे।

जिस दिन मैं यहाँ पहुँचा उन्होंने उसी दिन अपनी विद्या संक्रमित की और पूर्ण समाधि में चले गये। उनकी इच्छानुसार तभी से मैं यहाँ ठहर गया हूँ और एक तरह से मैं उनका स्थानापन्न

हो गया हूँ। मुझ ब्रजवल्लभदास मसानी को लोग अब संमोहानन्द के नाम से जानते हैं।

मेरा यह दुपट्टा तुम देख रहे हो नकछेद पण्डित! यह वही अविकृत दुपट्टा है जिसे पूज्य भूदेव मिश्र के गुरु ने उन्हें दीक्षा के अवसर पर प्रदान किया था। ऐसा लगता है जैसे कालक्रम से इसकी स्वर्णिम कान्ति बढ़ती ही चली जाती है।

अब तुम जाओ। पाँच बजे आना। उस समय तुमसे कुछ खास बातें करनी हैं। वे खास बातें करनी हैं, जिनके लिए मैंने तुम्हें बुलाया है। रात में तुम्हारे जाने से पहले यहाँ कुछ हो सकता है।"

**

भगवती सुरानन्दा

नकछेद पण्डित ! जीवन के प्रारंभिक दिनों में मैंने भी नौकरी की थी और नौकरी का दंश मुझे भी लगा था। मैं अध्यापक था। मैं संस्कृत में एम०ए० हूँ और गवर्नमेंट संस्कृत कालेज से मैंने व्याकरण में आचार्य किया था। शिक्षा का माध्यम होने के कारण अंग्रेजी तो ऐसे ही पुष्पित पल्लवित होती गयी।

इस समय मैं तुमसे उस दुर्घटना का उल्लेख करने जा रहा हूँ जिसके कारण मैंने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दिया था और कालान्तर में जिसने मेरे जीवन में एक विचित्र मोड़ पैदा कर दिया।

उन दिनों मैं 'जयपुर' में एक कालेज में संस्कृत का अध्यापक था। रात के समय गुरु-प्रदत्त विद्या का अभ्यास करने के लिए मुझे बहुत जल्दी उठना पड़ता था। यही कोई बारह बजे के आस-पास। फलतः प्रातःकाल मैं देर तक सोता रहता और कभी-कभी कालेज पहुँचने में देर हो जाती थी। कोई खास नहीं, यही कोई दस-पाँच मिनट की देर। लेकिन देर तो देर है। समय का पाबंद न होना तो एक गलत बात है। ब्रजवल्लभदास के कारण कालेज की रूटीन तो लचीली नहीं बनाई जा सकती थी। वह कालेज कुछ जल्दी शुरू होता था। यहीं कोई दस बजे से पहले। उस दिन जब मैं कालेज पहुँचा तो दस बज चुके थे। मैं उपस्थिति-पंजिका पर हस्ताक्षर करने पहुँचा तो कालेज का प्रिंसिपल बेरूख हो कर पूछ बैठा - "पण्डित ! क्या बजा है ?"

मैंने उत्तर दिया- "घड़ी तो आपके सामने है। मैं पीछे मुड़ूँगा तब देखूँगा ; आप तो तुरन्त देख सकते हैं।"

उसी दिन मैंने कालेज से त्याग पत्र दिया। घटना कोई खास नहीं थी। मित्रों ने काफी समझाया। कालेज का प्रिंसिपल भी ऐसी अपेक्षा तो नहीं करता था। फलतः मेरे जीवन के भविष्य पर वह भी व्याख्यान झाड़ता रहा। लेकिन उसकी बेरूखी मुझे अच्छी नहीं लगी थी। मैं त्याग-पत्र देकर सड़क पर आ गया।

अपने आवास पर लौटकर मुझे चिंता हुई। मैं एक सेठ के मकान में रह रहा था। अच्छा खासा पैसे वाला सेठ था। उस जमाने में उसके कमरे का किराया पचीस रुपया था। मैं सोचने लगा कि जयपुर में मैं ऐसे-तैसे तो रह लूँगा, लेकिन ऐन वक्त पर यह पचीस रुपया कहाँ से लाऊँगा। समय पर न रहे तो ? और मेरा क्या होगा ? ऐसे कैसे चलेगा ? यह कुछ दिनों की बात तो है नहीं। इतनी जल्दी नौकरी कहाँ से मिलती है और वह भी सत्र के बीच। तुम्हें थोड़ा गम खाना चाहिए था ब्रजवल्लभ ! तैश में तुमने इस्तीफा तो दे दिया। लेकिन अब ?

अपने कमरे में यहीं सब पड़ा-पड़ा सोच रहा था कि दरवाजे पर दस्तक पड़ी। सेठ की बहू दरवाजे पर खड़ी थी। मैं कमरे से बाहर निकल आया और बरामदे में आकर उसके आने का कारण पूछने लगा।

"पण्डित ! आप रबड़ के भाव को लेकर मेरे ससुर से उसमें पैसा लगाने को कहते रहते हैं !" वह बोली।

"हाँ, यह सही है। रबड़ के भाव में बड़ा बदलाव आने वाला है। सही बात तो यह है कि आज अगर अठारह है तो कल अस्सी होने वाला है, सौ होने वाला है। तुम्हारे ससुर से मैं इधर लगातार

पैसा लगाने को कह रहा हूँ, लेकिन उसे विश्वास नहीं हो रहा है। विश्वास होता भी हो, क्यों कि तुम देख रही हो तेजी से उसका भाव ऊपर जा रहा है-उनकी शायद हिम्मत नहीं हो रही है। लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि रबड़ का भाव आसमान पर चढ़ने वाला है। इसमें पैसा लगाने वाला माला-माल हो जायेगा। तुमसे थोड़े में कह रहा हूँ कि हजार से लाख और लाख से करोड़ होने वाला है। रोज का भाव बताने के लिए तो मैं तैयार हूँ, लेकिन मेरे हिसाब से कोई चले तब तो कुछ हो ! तुम्हारा ससुर इतना बड़ा सेठ है, लेकिन तैयार नहीं होता।''

''लेकिन आप रोज-रोज का भाव बतायेंगे कैसे ?''

''मेरे लिए कोई मुश्किल नहीं है। देखो, भाव के पूर्वज्ञान के लिए एक विशेष पूजा का विधान है और उस पूजा में एक स्त्री का होना जरूरी होता है। पूजन-सामग्री के लिए कुछ खर्च भी करना पड़ता है। कोई खास नहीं, प्रतिदिन यही कोई पचीस-तीस रुपये और बस।''

''पण्डित ! जो भी खर्च होगा मैं कर लूँगी, लेकिन एक स्त्री ...... वह तो बड़ा मुश्किल है ....।'' वह थोड़ी देर ठिठक कर खड़ी रही। उसकी आँखों में निराशा तैरने लगी। जैसे हताश होकर बोली - ''वह तो बड़ा मुश्किल है।''अच्छा पण्डित ! इतना कहकर वह चली गयी।

लेकिन शाम के वक्त मेरे द्वार पर फिर दस्तक पड़ी। वह बरामदे में खड़ी थी। मेरे निकट पहुँच कर बोली - ''एक स्त्री के रूप में क्या मैं नहीं आ सकती ?''

"तुम्हारे पास धन की तो कोई कमी नहीं है, लेकिन एक स्त्री के रूप में पूजा में सम्मिलित होना तुम्हारे लिए बहुत मुश्किल है। वह विलक्षण पूजा है। वह मध्यरात्रि में शुरू होकर लगभग एक पहर तक चलती है। तुम्हारे लिए एकदम मुश्किल है।"

लेकिन वह बड़ी महत्त्वाकांक्षिणी युवती थी। उसकी आँखों में बड़े-बड़े सपने तैर रहे थे। वह अपने वर्तमान को एक ऐसे भविष्य में बदलना चाहती थी कि दुनिया बस देखती रह जाय।

कुछ क्षण मौन रहने के बाद बोली - "आप चिन्ता न करें। आप मुझे आवश्यक पूजा-सामग्री बतला दें। उसे लेकर मैं आप के पास बारह बजे से पहले पहुँच जाऊँगी।"

"लेकिन तुम्हारा पति ? तुम्हारी अभी-अभी शादी हुई है !"

"मैं उसे दूध में नींद की गोली का तगड़ा डोज देकर सुला दूँगी। आखिर कुछ दिनों की ही तो बात है। उन्हें धनी नहीं बनना तो नहीं बनना, लेकिन मुझे तो बनना है। आप निश्चिन्त रहें। मैं अपने रुपये लगाऊँगी।"

वह रात में बारह बजे से पहले ही पुष्प-धूप, फल-मिष्ठान्न, पिसा हुआ चन्दन, केसर आदि लेकर मेरे कमरे में आ गयी। उस समय उसने ज़ड़ाऊ लहँगा पहन रखा था। माथे पर माँग टीका तथा नाक में जगमग करता हुआ नथ था। ऐसा लगता था जैसे उसने अपने सम्पूर्ण शरीर पर अत्यन्त सुगंधित इत्र का लेप किया था। उसके प्रलम्बित काले-काले बाल अत्यन्त सजे हुए थे और अंजन-रंजित उसके नेत्र अत्यन्त मनोहर लग रहे थे। उसने सारे

आभरण पहन रखे थे और उस समय वह नयी नवेली की सज-धज के साथ आई थी। उसके होंठ पान से लाल-लाल हो रहे थे और वह अपने सौंदर्य से किसी अप्सरा को मात कर रही थी।

यद्यपि मैं पूजा विधान के लिए तैयार था; लेकिन मुझे यह कल्पना नहीं थी कि वह इतनी सज-धज के साथ इतना निर्द्वंद्व होकर आयेगी। लेकिन, उसकी महात्त्वाकांक्षा!

रात्रि-पूजा का स्वरूप बड़ा विचित्र है; लेकिन उस गुह्य पूजा का बड़ा विलक्षण फल होता है। उस पूजा में सर्वांग पर केसर चन्दन का लेप तथा अत्यन्त सुगंधित इत्र का छिड़काव करना होता है। अत्यल्प मात्रा में किसी पक्षी के माँस तथा किसी मीठे मद्य का प्रयोग करना पड़ता है। वह एक प्रयोगनिष्ठ पूजा है। इसलिए शरीराव :. की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। परम एकांतिक पूजा होने के कारण वहाँ स्त्री-पुरुष का भेद समाप्त हो जाता है। हमारे शरीर में कई ऐसे गुह्य शक्ति-केन्द्र हैं जिनके सार्थक प्रयोग से हम जीवन भर वंचित रहते हैं। इसीलिए तो सारी दुनियाँ एक पशु मानी गयी है। हम एक पशु से ऊपर कहाँ उठ पाते हैं? इसीलिए रहस्य-केन्द्र सक्रिय नहीं हो पाते और हम एक पशु के रूप में पैदा होते हैं, पशु-भाव में जीवन जीते हैं तथा एक पशु के रूप में ही विदा हो जाते हैं। हमारे शक्ति-केन्द्रों पर निर्दिष्ट बीजमन्त्रों की चोट नहीं पड़ती। फलतः वे निश्क्रिय रह जाते हैं और उपरिवर्ती मण्डलों में हमारा प्रवेश नहीं हो पाता है। कतिपय लोग परम साहसी होते है। वे ऊपर उठते हैं और अदृष्ट को अपनी खुली आँखों से देख लेते हैं। ऊपर उठने के लिए होना चाहिए परम साहस तथा परम विश्वास! पतनशील दुनियाँ तो कायरता से भरी हुई है।

उस रमणी के साहचर्य से वह गुह्य पूजा लगभग एक प्रहर तक चलती और प्रतिदिन एकदम सही रूप में मुझे आगामी भाव की पूर्व सूचना हो जाती। वह परम साहसी महिला निकली। एक माह में रबड़ का भाव आसमान छूने लगा। अठारह का भाव अस्सी तक नहीं दो सौ तक पहुँचा। एक महीने के भीतर उस महिला ने हजारों से करोड़ों तक की यात्रा की।

मेरे कमरे में एक रात वह अपनी पूरी सज-धज के साथ एक बड़ा सा बोरा लेकर पहुँची। उसके कंधे से लटकते हुए एक बड़े से झोले में कई पैकेट पड़े हुए थे।

एक महीने तक चलने वाली महापूजा समाप्त हो गयी थी। मैं अपने पलंग पर अपनी रात्रि-पूजा से पूर्व यूँ ही लेटा हुआ था। उसे देखकर हड़बड़ा कर उठ बैठा।

उसने मुस्कराते हुए कहा - "पण्डित! यह तुम्हारा हिस्सा है। तुम्हारे कारण मैं करोड़ों की मालकिन हुई हूँ। इस बोरे में पचहत्तर लाख रुपये हैं। वे तुम्हारे हैं। सम्हालो इन्हें।"

फिर लटकते हुए झोले से उसने कई पैकेट निकाले। एक में चमकदार जूते थे,तो दूसरे में दिव्य परिधान। मेरे शरीर पर चम्पे का इत्र लगाकर उसने तीसरे पैकेट से गुलाबों की एक घनी माला निकाली और उसे मेरे गले में डाल दी; और स्वयं निर्मित लड्डुओं को अपने हाथ से खिलाने लगी। उसके आनन्द का अंत नहीं था। वह मेरी ओर बार-बार अपने विह्वल नेत्रों से देखे जा रही थी।

विदा के समय उसने साष्टांग प्रणाम किया और जाते-जाते बोली-"पण्डित ! तुम्हारी विद्या का अन्त नहीं है । तुम विश्व-महान् हो !"

"नकछेद पण्डित ! मैंने तुमसे स्वयं को कभी विश्व-महान् कहा था। जयपुर में उस सेठ की बहू लीला ने ही मुझे यह डिग्री दी थी।" इतना कहकर बाबा संमोहानन्द हँसने लगे।

"बाबा ! आपकी बातों से स्पष्ट होता है कि आपकी गुरु कोई महिला थीं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उन्होंने आपको एक ऐसी विद्या प्रदान की थी जिसके प्रभाव से अतीत, वर्तमान तथा अनागत के भेद मिट जाते हैं। क्या मैं अध्यात्म के उच्चतम शिखरों पर संचरण करने वाली उस महिला के विषय में कुछ जान सकता हूँ और क्या मैं उस प्रयोगनिष्ठ विद्या के विषय में भी कुछ जानने का अधिकारी हूँ ?"

"नकछेद पण्डित ! मैंने तुम्हें बुलाया ही इसीलिए है।"

बहुत पहले की बात है।

गुजरात में द्वारका के कालेज में संस्कृत अध्यापक के रूप में मेरी पहली नियुक्ति हुई थी। मेरी नियुक्ति के समय सत्र का अंत हो रहा था और छुट्टियाँ शुरू होने वाली थीं।

उस समय मैं भी एकाकी था, अविवाहित। मुझे किसी भी चीज का व्यसन नहीं था। नियमित व्यायाम ने मेरी काया को बड़ा

दृढ़ बना दिया था और उन दिनों मेरी गणना अत्यन्त सुन्दर पुरुषों में होती थी। ढंग के कपड़े पहन लेने पर मैं किसी ऐक्टर सा लगता था। लेकिन मैं बड़ा संयमी था। संयम ही मेरी सुघड़ता का परम रहस्य था।

छुट्टियों में मैं प्रभास क्षेत्र में रम गया। मुझे वह क्षेत्र सदा से आकर्षित करता रहा है। समुद्र की विराट लीला तथा निस्सीम सैकत प्रदेश ये दोनों ही मुझे अपार आनन्द से भर देते हैं। समुद्र की अनन्त नीलिमा मेरे प्राणों को एक महान् चुंबक की तरह खींचती है। आरम्भ से ही समुद्र के विपुल विस्तार को देखकर मेरे भीतर जैसे समाधि का आविर्भाव होने लगता है।

आज भी द्वारिका का वह बड़ा क्षेत्र बड़ा तरंगायित है। श्रीकृष्ण ने उस क्षेत्र को अपनी प्रचण्ड महिमा से उद्भासित किया था। वह ऐसे ही प्रभास नहीं है। श्रीकृष्ण की बहुरंगी लीलाओं ने उस समूचे प्रदेश को एक महिमामय आलोक से भर दिया है। वह आलोक वहाँ आज भी विद्यमान है। यही वह प्रदेश है जहाँ रोते-विलखते दारुक से परम निर्मम श्रीकृष्ण ने कहा था -

"जाओ दारुक! द्वारिका में खबर करो कि मैं जा रहा हूँ। सब कुछ समाप्त हो चुका है, और यह उफनता हुआ समुद्र मेरे जाते ही सात दिनों के भीतर समूची द्वारका को लील जायेगा।"

वह पूरा प्रदेश अद्भुत तरंगों से तरंगायित है। आँखें चाहिए। वह शिला आज भी प्रकट होती है और आज भी समुद्र में तिरोहित होती है, जहाँ से उस व्याध ने श्रीकृष्ण के लोहित चरणों की ओर शरसन्धान किया था।

रुक्मिणी का मंदिर आज भी महर्षि दुर्वासा के उस बिगड़े हुए मूड की याद दिलाता है जिसके फलस्वरूप रानी रुक्मिणी एक वर्ष तक श्रीकृष्ण से अलग थीं !

वह बड़ा आलोकित प्रदेश है, नकछेद पण्डित ! ऐसा लगता है जैसे सूर्य उस प्रदेश से बड़ा कसमसाकर विदा लेता है। वहाँ जाना कभी और अस्त होते हुए सूर्य की रक्ताभ किरणों को उस हरहराते समुद्र के परम विह्वल नीले पट पर समर्पित होते हुए देखना। वह जीवन और मरण का परम रहस्यमय क्षेत्र है।

·

एक दिन ऐसे ही घूमते हुए मैं एक ऐसी जगह पर पहुँचा जो समुद्र तट की ऊँचाइयों पर स्थित था। उस हरी-भरी जगह में एक छोटा सा बड़ा सुन्दर भवन दिख रहा था और उस भवन से अनेक-विध वाद्यों की ध्वनि फैल रही थी। शायद भवन के मन्दिर में आरती हो रही थी। प्रातःकालीन आरती।

अत्यन्त उत्सुकता से मैं भीतर पहुँच गया। यद्यपि भवन के प्रवेश-द्वार पर 'प्रवेश निषेध' लिखा था ; लेकिन संतरी ने कोई रोक-टोक नहीं की। दाहिनी ओर एक अत्यंन्त सुसज्जित हॉल था और उसके परले सिरे पर बाँके बिहारी जी का बड़ा भव्य मन्दिर था। वहाँ सचमुच आरती हो रही थी। आलोकमय पुरुष उस आरती के प्रकाश में रह-रहकर आलोकित हो रहे थे। हाल में अच्छे-खासे स्त्री-पुरुष मौजूद थे। हाथ जोड़े हुए परम भक्ति-भाव से सभी लोग श्रीकृष्ण की आरती गा रहे थे।

मन्दिर में राधाकृष्ण की वह मूर्ति बड़ी विलक्षण थी। कानों तक फैले हुए नेत्रों वाले राजाधिराज कृष्ण सबकी ओर देखते हुए

बड़े प्रसन्न लग रहे थे और राधा को ऐसे समेटे जा रहे थे जैसे उनका स्वरूप बिलगाव उन्हें जरा भी बर्दाश्त न हो रहा हो ! श्रीकृष्ण के होंठों पर परम रहस्यमय मुस्कान थिरक रही थी और उस आरती के दौरान कोई बड़ी मीठी मुरली बजा रहा था।

और तभी मेरी निगाह एक ऐसी युवती पर बड़ी जिसके सौन्दर्य का अंत नहीं था। स्त्रीवेश में जैसे श्रीकृष्ण ही उपस्थित थे।

आरती के बाद प्रसाद वितरण हुआ। वह प्रसाद नहीं पूरा भोजन था–पूरे परिवार का भोजन !

प्रसाद लेकर जब मैं चलने को हुआ तो मेरी निगाहें अनायास उस रूप–राशि की ओर पुनः उठ गयी। वह युवती मुझे बड़े स्निग्ध नेत्रों से देख रही थी। उसने मुझे हाथ उठाकर रोका और अपने पास आने का संकेत किया।

नकछेद पण्डित ! वह सौंदर्यमयी युवती एक परम शक्ति सम्पन्न महिला थीं। तत्कालीन स्टेट के राजा उनके परम भक्त थे और वे उनके आग्रह पर कुछ समय के लिए वहाँ आई हुई थीं। उनका प्रवचन सुनने के लिए लोग वहाँ दूर–दूर से पहुँचते रहते थे।

उन्होंने मुझे अपने पास ऐसे स्नेह से बैठाया जैसे वे मुझे बहुत दिनों से जानती हों और एक ऐसे सामान्य लहजे में मेरी हाल–चाल पूछने लगीं जैसे की मैं उनका कोई अत्यन्त अंतरंग व्यक्ति होऊँ। नकछेद पण्डित ! सद्गुरु ऐसे ही मिलता है। हम उसे नहीं जानते, लेकिन वह हमें जानता है। उन्होंने पूछा :

"तुम कहाँ के मूल निवासी हो।"

"बनारस का।" मैंने उत्तर दिया।

"लेकिन मूल निवासी कहाँ के हो।"

"मेरा घर बनारस में है। मैं बनारस का रहने वाला हूँ।"

"नहीं-नहीं। मैं तुमसे यह पूछ रही हूँ कि तुम मूल निवासी कहाँ के हो।" उसके बाद वे मुझसे मेरी स्थानीय बोली में बात करने लगीं।

एक सद्गुरु तुम्हें बहुत पहले से जानता है नकछेद पण्डित! क्योंकि एक सद्गुरु तुम्हारे शरीर को ही नहीं तुम्हारी आत्मिक यात्रा को भी जानता है। वह तुम्हारी अनेक यात्राओं का साक्षी रहा होता है। सद्गुरु वह व्यक्ति होता है जो तुम्हारे यात्रा-काल में तुम्हारे सुख से सुखी तथा दुःख से दुःखी होता रहा है। परम करुणामय सद्गुरु तुम्हें निरन्तर देखता रहता है और तुम्हारे कर्मक्षय पर दृष्टि लगाये हुए उस घड़ी की प्रतीक्षा करता रहता है जब तुम उससे मिलोगे-एक व्याकुल प्रतीक्षा! ब्राह्मी विद्या में प्रतिष्ठित एक सद्गुरु अपने शिष्य के लिए बड़ी घोर प्रतीक्षा करता है। इसीलिए सद्गुरु की महिमा का अन्त नहीं है। सहजो बाई हरि का परित्याग कर सकती हैं, गुरु का नहीं, *'हरिहिं तजूँ पर गुरु न बिसारूँ।'*

परित्यक्त भूल जाता है। विस्मृत हो जाता है। गुरु के साथ तो ऐसा कोई सवाल ही नहीं है। हरि का परित्याग हो सकता है, गुरु के परित्याग की कल्पना ही नहीं है, उसके विस्मरण का प्रश्न ही कहाँ उठता है।"

सद्गुरु!

वे मेरी सद्गुरु थीं। वे माँ सुरानन्दा के नाम से जानी जाती थीं। वे उस तारुण्य में ही सिद्धि के शिखर पर विराजमान थीं। वे ब्राह्मीभाव में प्रतिष्ठित थीं और उनके ज्ञान का अन्त नहीं था।

उन्होंने मुझे शाम होते ही एक निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का संकेत किया और मेरी ओर एक ममत्त्वपूर्ण निस्संग दृष्टि से देखते हुए बगल वाले कमरे में चली गयीं।

माँ सुरानन्दा के सौंदर्य की कोई तुलना नहीं है। उस पहली भेंट के समय उन्होंने एक धानी रंग की साड़ी पहन रखी थीं और उनके शरीर पर सामान्य से आभूषण थे। नाक में कील, कानों में कर्णफूल, कलाइयों में हल्के से सोने के कंगन तथा पैरों में पायजेब। आँखों में अंजन नहीं था, लेकिन उनके विशाल नेत्रों में ताजे मोतियों की आभा के साथ-साथ माणिक्य की ललाई सी फैल रही थी। वैसे विलक्षण नेत्र मैंने आज तक फिर नहीं देखे। मैं अत्यन्त प्रसिद्ध अभिनेत्रियों के साथ रहा हूँ; लेकिन उनकी वाणी का संगीत मुझे किसी भी रमणी के स्वर में नहीं सुनाई पड़ा। उनके स्वर को सुनकर मुझे कालिदास के वे शब्द याद आ गये जो उन्होंने उमा की वाणी की प्रशंसा में लिखे हैं। उस समय उनकी उम्र जो भी रही हो, लेकिन वे उन्नीस से ऊपर एकदम नहीं लग रही थीं।

गर्मियों के दिन थे। सूर्यास्त से पहले ही मैंने जल्दी से स्नान किया और माँ सुरानन्दा द्वारा निर्दिष्ट राजा के पुराने किले की ओर उस सैकत प्रदेश में लंबे-लंबे डग भरता हुआ बड़ी तेजी से बढ़ चला। वह किला नजदीक नहीं था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते झुटपुटा हो चला।

माँ सुरानन्दा ने किले के प्रवेश-द्वार से आने को मना किया था। उनके निर्देश के अनुसार मैं प्रवेश-द्वार तक आने वाली दाहिनी पगडंडी पर मुड़ गया और किले की प्राचीर से सटकर चलने लगा। काफी आगे बढ़ने पर एक घनी झाड़ी दिखाई दी। वह घनी झाड़ी वहाँ की प्राचीर को ढँके हुए थी ; लेकिन उसके भीतर प्रवेश करते ही अपनी बायीं ओर मुझे एक छोटा सा बंद दरवाजा दिखाई पड़ा। हाथ लगाते ही वह खुल गया। किले के भीतर प्रवेश करके मैंने उस लघु द्वार को बंद कर दिया और प्राचीर से थोड़ा हटकर बनी हुई सीमेंटेड राहदरी पर चलने लगा। राहदरी के दोनों ओर अनेक वर्णी गुलाब के फूल खिले हुए थे और उस भीतरी प्रांगण में चंपा तथा केवड़े की मिली-जुली बड़ी तीखी सुगंध फैल रही थी। मुख्य भवन तक पहुँचते-पहुँचते मुझे कई फब्बारों के उड़ते हुए जलकण एकदम ताजा कर चुके थे। चारों ओर बड़ी बढ़िया श्यामल घास बिछी हुई थी और ठण्डे पानी से सिंचित होने के कारण किले का वह पूरा भाग एक आकर्षक सैरगाह सा लग रहा था। आश्चर्य यह था कि मुख्य इमारत तक पहुँचते-पहुँचते भी रोशनी का कहीं दर्शन नहीं हुआ था। अँधेरा बड़ी तेजी से उतरता जा रहा था। उस दिन अमावस्या थी।

उस इमारत का द्वार खुला था। माँ सुरानन्दा के निर्देशानुसार मैं उस अन्धकाराच्छन्न भवन के उस बरामदे में चलने लगा जिसकी फर्श बड़ी स्वच्छ तथा चिकनी लग रही थी और जिसकी छत अत्यन्त चिकने तथा मोटे-मोटे घुमावदार खंभों पर ठहरी हुई थी। उस अँधेरे में एकाएक एक आकृति सी उभरी। वह बड़ी डील-डौल वाला एक विशाल कुत्ता था, जो कहीं से निकल कर आकर खड़ा हो गया

था। मुझे ठिठका हुआ पाकर वह बायीं ओर एकाएक मुड़ गया और उस बरामदे से आकर जुड़ने वाले रास्ते पर आगे बढ़ने लगा। माँ सुरानन्दा ने बिल्कुल निर्भय होकर आने के लिए कहा था, इसलिए मैं भयरहित होकर उस विशाल कुत्ते के पीछे-पीछे चलने लगा। उस रास्ते के सिरे पर अकस्मात् एक बड़ी तेज रोशनी हुई। उस दूसरे भवन के प्रवेश-द्वार पर माँ सुरानन्दा खड़ी थीं। और उनके चारों ओर लगभग एक दर्जन परम सुन्दर बालाएँ ऐसे बड़े-बड़े राजसी लैम्प लिये हुए खड़ी थीं जिनसे बड़ा तेज प्रकाश निकल रहा था।

नकछेद पण्डित ! मुझे उस जगह दीक्षा मिली जहाँ ऐश्वर्य तथा सौंदर्य का जमघट लगा हुआ था। कुछ लोगों को ऐश्वर्य के परिवेश में दीक्षा मिलती है तो कुछ लोगों को सौंदर्य के परिवेश में। उस महाविद्यां की महिमा ही ऐसी है। मेरी गुरु ने एक साथ दोनों का साक्षात् कराया-ऐश्वर्य का भी, अलोक-सामान्य सौन्दर्य का भी।

वे मुझे एक अत्यन्त सुसज्जित कक्ष में ले आयीं। फिर उस कक्ष में मुझे अकेले छोड़कर वे बगल वाले कमरे का जड़ाऊ द्वार खोलकर उसके भीतर चली गयीं।

उस कक्ष की फर्श पर सुनहली कार्पेट बिछी हुई थी और चारों ओर सुघड़ कोच तथा कुर्सियाँ लगी हुई थीं। उनके सामने ही छोटी-छोटी शानदार मेंजें रखी हुई थीं। वे सभी उत्कृष्ट कला की नमूना थीं। मेजों पर मणिमय गुलदस्ते सजे हुए थे। सारा कक्ष धूप तथा अगर की सुगंधों से महँक रहा था। उस कक्ष की हल्की

गुलाबी दीवारें गोलाकार थीं और उन पर राजपुरुषों तथा राजरमणियों के विशाल तैलचित्र लटक रहे थे। उनके ऊपर विभिन्न वन्य-पशुओं के मुंड जुड़े हुए थे और तैलचित्रों के बीच खाली जगहों में सुन्दर लकड़ी की खुली हुई प्रदर्शन-मंजूषाओं में विविध आयुध टँगे हुए थे। चारों दिशाओं में अच्छी ऊँचाई वाले चार रत्नजटित फाटक दिखाई पड़ रहे थे, जो उससे संलग्न कमरों में खुलते थे। छत से अनगिनत दीपों वाला एक विशाल झाड़-फानूस लटक रहा था, जिससे विविध वर्णी प्रकाश फैल रहा था और उस एकान्त रत्नमय कक्ष में अनेक इन्द्रधनुष बन-बिगड़ रहे थे।

उस कक्ष की एक दीवार के साथ ऊँचाई के क्रम में अपनी पूरी लम्बाई - चौड़ाई के साथ भुस भरे हुए पाँच शेर खड़े किये गये थे, जिनकी आँखों में उनका जातीय पैनापन अब भी बरकरार था। कक्ष के बीचोबीच जड़ाऊ कार्पेट के ऊपर एक सात फुट लम्बे विशाल व्याघ्र का चर्म बिछा हुआ था। उस व्याघ्र का मुँह अपनी पूरी लम्बाई-चौड़ाई के साथ एक डरावनी मुद्रा में खुला हुआ था। उसकी आँखें आकाश में कहीं ठहरी हुई थीं और उसके नख-दंत एकदम सही- सलामत थे। उस व्याघ्र चर्म के ऊपर लगभग उसी विस्तार की एक सुर्ख शनील बिछी हुई थी।

वह कक्ष का एक विलक्षण संग्रहालय सा लग रहा था। ऋतु के विपरीत वहाँ बड़ी ठण्ड थी।

उस राजसी कक्ष का निरीक्षण करने में मैं तल्लीन था कि तभी बगल वाला द्वार खुला और उसमें से माँ सुरानन्दा अपने एक हाथ में एक बड़ी सी चाँदी की तश्तरी और दूसरे हाथ में लम्बी गर्दन वाली एक रत्नजटित सुराही लेकर बाहर आयीं। बाहर आकर उन्होंने उन सामग्रियों को एक मेज पर रख दिया और पास वाली कुर्सी पर बैठ गयीं। उनकी आज्ञा से बगल वाली कुर्सी पर मैं बैठ गया।

उस समय उन्होंने एक बहुत सुन्दर हरे रंग का एक भारी गाउन पहन रखा था। उस गाउन पर सोने के तारों से बड़ा सुन्दर काम हुआ था और वह भारी होते हुए भी झीना आवरण था। उस समय माँ सुरानन्दा का शरीर एक तराशे हुए संगमरमर की कठोर मूर्ति सा लग रहा था। उनकी रक्ताभ आँखें कुछ अधिक लाल लग रही थीं।

तश्तरी में एक सोने का बड़ा सा कटोरा था जिसमें संभवतः किसी पक्षी का भुना हुआ माँस था। उस कटोरे के साथ दो रत्न-जटित चषक रखे हुए थे।

उन्होंने मणिमय सुराही से दोनों चषकों में थोड़ी मात्रा में कोई पेय पदार्थ उँडेला और एक चषक उठाकर उस पेय को चुसकने लगीं। क्षण भर बाद उस दूसरे चषक को उन्होंने मेरे हाथों में थमा दिया और उस कटोरे में रखे हुए पदार्थ को लेने का संकेत करने लगीं।

दो-चार क्षणों की चुप्पी के बाद माँ सुरानन्दा बोलने लगीं - "ब्रजवल्लभ! तुम चुने गये हो। इस समय इस महाविद्या के एक मात्र अधिकारी तुम्हीं हो। यह एक प्रयोगनिष्ठ विद्या है। इस विद्या का कोई व्याख्यान नहीं होता। महाविद्या कोई किताबी चीज नहीं है। वह एक तेज है और उस तेज का संक्रमण होता है।

पुस्तकों से हमें कुछ खास हासिल नहीं होता है। एक उत्कंठा पर जगती है। वैसे उत्कंठा भी अपने-आप में एक बड़ी चीज है। एक सद्ग्रन्थ किसी आप्त पुरुष की अनुभूतियों का संग्रह है। सामान्य तल पर जीवन जीने वाला आदमी उन अनुभूतियों के सम्बन्ध में केवल अटकलें लगा सकता है, उन्हें समझ नहीं सकता। उन्हें समझने के लिए उसे एक दूसरे तल पर पहुँचना होगा। सारी दुनियाँ किताबों में उलझी हुई है। अनुभूतियों के

जगत् में प्रवेश करने की उसकी हिम्मत नहीं होती। वह जिस स्त्री के फोटो पर मोहित है उसे पाने का साहस नहीं जुटा पाता है। यह महाविद्या उस मण्डल में प्रवेश का एक मात्र मार्ग है।

तुम काली और कृष्ण को अलग-अलग मत समझना। वे अभिन्न हैं। कृष्ण ही काली हैं।

ऐसा कहकर उन्होंने मेरे चषक को उस पेय से पूरा भर दिया और उसे पी जाने को कहा। उसी अवस्था में उन्होंने मुझे काली का बीज मन्त्र दिया जिसे सुनते ही मेरे मूलचक्र में एक जगमगाते हीरे का सा प्रकाश फैल गया। दूसरे क्षण ही माँ सुरानन्दा ने कहा-

"ब्रजवल्लभ ! आज से तुम मुक्त हो गये। यत्न भर बाकी है जिसे तुम जीवन पर्यन्त साधते रहोगे।"

तत्पश्चात् वे भीतर वाले कमरे में चली गयीं और कुछ क्षण बाद अपने हाथ में एक चाँदी का छोटा सा पात्र लिये हुए बाहर निकलीं। मेरे हाथों में उसे देते हुए बोलीं-

"यह परम रहस्यमय शक्ति-जल है। इसे पी लो और ऊपर का वस्त्र उतार कर उस व्याघ्र के आसन पर लेट जाओ। और अपनी पूरी शक्ति से काली-मन्त्र का उपांशु जप करते-करते उसमें लीन हो जाओ। तुम्हें जप नहीं करना है, तुम्हें जप ही हो जाना है।"

उस मीठे कारणद्रव्य तथा जल के प्रभाव से मेरी संज्ञा लुप्त होने लगी थी और काली-मन्त्र का जप मेरे अवचेतन में शुरू हो गया था। कुछ क्षण बाद सारी बत्तियाँ बुझ गयीं और गहन अन्धकार छा गया। तभी मेरे वक्ष पर कोई भार सा आ पड़ा और किसी ने मेरी जीभ पकड़ ली।

बाह्य रूप से निःसंश; लेकिन अपने अवचेतन में पूर्ण रूप से जागृत उस अवस्था में मैं कम-से-कम एक मुहूर्त तक तो पड़ा ही रहा हूँगा।

जब मेरी बाह्य चेतना लौटी तब मैंनें उस कक्ष को पूर्ण आलोकित पाया। माँ सुरानन्दा एक गुलाबी रेशमी साड़ी पहिने एक कुर्सी पर बैठी थीं और बहुत प्रसन्न तथा संतुष्ट लग रही थीं। उन्होंने मुझे उठकर बैठने का संकेत किया। फिर पास में बैठाकर मेरे चषक में मद्य उड़ेलने लगीं।

कुछ देर बाद वे अपने सांगीतिक स्वर में बोलीं –

"तुम्हारी दीक्षा का प्रथम चरण पूरा हो गया। तुम्हारी शक्ति अब उठने लगी है। मन्त्रजप के फलस्वरूप कालांतर में तुम्हें इस सारी प्रक्रिया का बोध स्वतः हो जायेगा। यह परम गुह्य प्रयोग-विधि है। इसका प्रयोग करने के पूर्व तुम्हें अत्यन्त निर्द्वन्द्व तथा शान्त होना पड़ेगा। इसके कालव्यापी प्रयोग से तुम्हें अनागत का प्रत्यक्ष होने लगेगा। ज्ञेय विषय हाथ में रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट हो जायेगा। तुम जो कहोगे वही होगा। मैं इस प्रथम चरण की साक्षी रही हूँ; लेकिन तुम्हारी दीक्षा का दूसरा चरण मेरे निर्देश के अनुसार लगभग तीन घण्टों तक चलेगा। मैं अप्रत्यक्ष रहकर पूरी प्रयोग-विधि का संचालन करती रहूँगी। उस प्रयोग में सफल होने के बाद तुम एक वज्रोली सिद्ध हो जाओगे। फिर तुम्हें विवाह करने की कोई जरूरत नहीं रह जायेगी। समय आने पर अपने अत्यन्त अन्तरंग मित्रों के बीच इस गुह्यातिगुह्य विद्या का उपदेश करना और उनके जीवन को कृष्ण के दिव्य भाव से आपूरित करते जाना। काली ही कृष्ण हैं, कृष्ण ही काली हैं।

ब्रजवल्लभ! पुरुष देह में छः प्रधान शक्ति केन्द्र हैं। दो हाथ, दो पैर, जीभ तथा शरीर का मध्यभाग! इन छः शक्ति केन्द्रों पर

छः शक्तियों का लगभग तीन घण्टे में क्रमिक स्थानान्तर होता है और एक परमधीर साधक कुछ ही घण्टों में एक बज्रोली सिद्ध में बदल जाता है। उस सिद्धि के बाद कुछ पाना नहीं होता। बस प्राप्त अनन्त ऐश्वर्य को जीवन पर्यन्त बाँटना भर शेष रह जाता है। ब्रजवल्लभ ! तुम्हारा वरण हुआ है; तुम्हें वहीं ऐश्वर्य बाँटना है। दूसरे चरण की सफलता के लिए मेरा आशीर्वाद है।''

नकछेद पण्डित ! मेरी दीक्षा का दूसरा चरण उस महारात्रि में लगभग तीन बजे समाप्त हुआ। मैं खरा साबित हुआ था। माँ सुरानन्दा मेरी सफलता पर आनन्द विह्वल हो गयी थीं और उस समय उन्होंने मुझे अपने हृदय से लगा लिया था।

सुबह से पहले विदा के समय मैं उनके रक्ताभ कोमल चरणों पर गिर पड़ा। मेरे आँसू थम नहीं रहे थे।माँ सुरानन्दा कह रही थीं- ''आज से पाँच वर्ष बाद तुम अपने वर्तमान जीवन से निवृत्त हो जाना और इस रहस्य विद्या का संवर्धन करते हुए देश-देशान्तर में भ्रमण करते रहना। कालान्तर में तुम्हारी भेंट पूरब के एक महासिद्ध से होगी। वे इस समय उत्तर भारत में सूर्य-विज्ञान के अवस्थान हैं। उनसे मिलने पर तुम उन्हें अपना नाम संमोहानन्द बतलाना। मैं तुम्हें संमोहानन्द का नाम दे रही हूँ। इस नाम का गूढार्थ समय आने पर तुम्हें अपने-आप स्पष्ट हो जायेगा।

मैं तुमसे वहीं मिलूँगी। उस समय तुम अपनी रहस्य विद्या का संक्रमण करोगे। मेरा आशीर्वाद हर समय तुम्हारी रक्षा करता रहेगा। तुम एक महान् वीर पुरुष हो।''

बाबा संमोहानन्द इतना कहकर अभी चुप ही हुए थे कि सामने वाली खिड़की पर प्रकाश की एक बड़ी तेज कौंध हुई। क्षण के भीतर ही व्रह प्रकाश-पुंज उस कमरे के मध्य में पहुँच कर ठहर गया और एक परम सौन्दर्यमयी रमणी में बदल गया।

बाबा संमोहानन्द के मुख से हठात् निकला – ''माँ सुरानन्दा!''

**

श्री वेणुगोपाल-
स्वामी मन्दिर गोशाला
पातञ्जल योग-मठ

म.नं. 3-4-634, जी-2, शंकरकृपा अपार्टमैन्ट,
नारायण गुडा, हैदराबाद-500 029

...रे प्यारे ऋषि-भक्तों ! वैदिक संस्कृति के प्रेमियों !

...भारतीय मनीषा के लिए समस्त विश्व के विद्वानों से ...शंसा अर्जित करने वाले महर्षि पाणिनि का यह स्मारक ...यं में एक अनुपम और अद्वितीय योजना है, जो पूरे ...श्व में पहली बार पाणिनि महाविद्यालय, वाराणसी द्वारा ...रंभ की गई है।

...हमारा पुण्य-कर्त्तव्य है कि हम ऐसे महान् स्वप्न को ...कार करने का बीड़ा उठाएं।

...आपसे अनुरोध है कि इस देश की वैज्ञानिक, शिक्षण-...म्परा को सुरक्षित करने के लिए इस महत्वपूर्ण कार्य में ...प तन-मन-धन से सहयोग करें। भारतीय गरिमामय ...न को सुशोभित एवं भावी पीढ़ी को प्रभावित करने वाले ... महान् यज्ञ में अपनी आहुति देकर पुण्य के भागी बनें। ...न है कि इस 'महर्षि पाणिनि स्मारक मन्दिर' के ...ण पर पांच करोड़ रुपये लगेंगे।

...चार्या मेधा देवी
...यक्षा
...: 0542-6544340, 2360340

साध्वी निर्मला योग-भारती
महामंत्री
Ph.: 092462-05710, 040-27551409

...र्षि पाणिनि स्मारक मन्दिर निर्माण समिति